UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180832

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H82·08/R23P Accession No. GH·1782
Author रस्तोगी, विनोद
Title युरुष की पाप / 1953
This book should be returned on or before the date
st marked below.

पुरुष का पाप

[एकांकी संग्रह]

विनोद रस्तोगी

मूल्य

१॥)

प्रकाशक—
कमला प्रकाशन,
७/१४०, स्वरूप नगर,
कानपुर

प्रथम संस्करण—अप्रैल, १९५३

[सर्वाधिकार लेखक के अधीन]

मुद्रक—
कपूर पब्लिशिंग प्रेस,
मैकराबर्ट गंज,
कानपुर

पुरुष!

तेरे पाप की गाथायें तुझी को समर्पित कर रहा हूँ। इन्हें पढ़कर कदाचित तेरी आँखें खुल जायें।

विनोद

अनुक्रमणिका

संख्या	शीर्षक		पृष्ठ संख्या
	पुरुष का पाप	...	१
	पत्नी-परित्याग	...	१७
	साम्राज्य और सोहाग	...	३३
	दो चाँद	...	४५
	प्यार और प्यास	...	६३
	आकाश-पाताल	...	७७
	सोहाग रात	..	८६
	सौन्दर्य का प्रायश्चित	...	१०१
	आज मेरा विवाह है	...	११३

पुरुष का पाप

पुरुष का पाप ही नारी के लिए अभिशाप है।
पुरुष तो पाप करके छूट जाता है किन्तु उसका
दंड मिलता है नारी को।

पात्र तथा स्थान

भार्गव ऋषि—प्रसिद्ध तपस्वी तथा आश्रम के आचार्य ।

अरजा—ऋषि भार्गव की पुत्री ।

जया—अरजा की सहेली; एक तापस कन्या ।

दण्ड—विन्ध्यप्रदेश का शासक ।

आश्रमवासी आदि ।

स्थान—भार्गव ऋषि के आश्रम के समीप का उपवन ।

समय—प्रातः काल ।

[उपवन में भाँति भाँति के फूल खिले हैं। बीच में एक शिला पड़ी है। उसके समीप ही एक मृग-शावक बैठा है। उपवन की बायीं ओर ऋषि भार्गव का आश्रम है जो दिखाई नहीं देता। दाहिनी ओर बन है। आश्रम की ओर से अरजा आती है। वह युवा है। गौर वर्ण पर श्वेत साड़ी फब रही है। मुक्त अलकावलि पीठ पर लहरा रही है। गले में एक तुलसी की माला है। वह प्रसन्न मुद्रा में है। उसे देखकर मृग-शावक उसके पास आता है। वह प्यार से उसके सर पर हाथ फेरती है। फिर उसे छोड़ कर वह फूल तोड़ने लगती है। उसका मीठा स्वर गूँज उठता है।]

"क्यों फूल फूल कर फूल रहे हो फूलो ?
मत भूलो यह जग दो दिन का मेला है यह मतभूलो !
है आज मधुर मधु मास—
किन्तु कल पतझर आयेगा;
धूल में तुम्हें मिलायेगा;
चाँदनी चार दिन की—
फिर काला तम लहरायेगा;
गहन सूनापन लायेगा;
कल गिरना भूपर, आज गर्व से भले गगन को छूलो !
क्यों फूल रहे हो फूलो ?
मत फूल फूल कर फूलो।

[आश्रम की ओर से जया का प्रवेश। वह भी युवा है। उसकी वेशभूषा अरजा जैसी ही है। अन्तर केवल इतना है कि उसके केश खुले नहीं है। वह कदाचित अरजा के गीत की अन्तिम पंक्तियाँ सुन लेती है। उसके अधरों पर मुस्कान छा जाती है। अरजा फूल शिला पर रख कर वहीं बैठ जाती है। जया भी समीप ही बैठ जाती है। मृग शावक अरजा

की-गोद में आ जाता है।]

जया—आज यह वैराग्य कैसा ?

अरजा—(हँसकर) इस नश्वर संसार के प्रति मुझे राग ही कब था ?

जया—संसार के प्रति राग भले ही न हो पर जीवन के प्रति वैराग्य तो आज ही देख रही हूँ।

अरजा—यह तुम्हारा दृष्टि-भ्रम है जया ! मुझे जीवन से न तो कभी राग था, न है और न होगा।

जया—और यौवन से ?

अरजा—यौवन ? यौवन तो जीवन से भी अधिक क्षणभंगुर है जया। वह तो जीवन का मध्य-विन्दु मात्र ही है। जब मुझे सम्पूर्ण वस्तु से ही मोह नहीं है तो भला उसके एक भाग से क्यों होने लगा ?

जया—(हँस कर) तुम भूलती अरजा ! एक जीवन क्या सहस्त्रों जीवन भी यौवन के एक पल की अपेक्षा तुच्छ हैं।

अरजा वर्तमान में फँसकर भविष्य को भूल जाना मूर्खता है जया। यौवन मादक है, किन्तु उसके पश्चात् जरा भी आती है और वह इतनी हठी है कि आकर फिर जाने का नाम भी नहीं लेती।

जया—यह ठीक है अरजा ! किन्तु यौवन भी इतना मानी है कि जाकर फिर आने का नाम नहीं लेता।

अरजा—सरिता की चंचल धारा को कौन बाँध सका है पगली ? यौवन को बाँधने के उपक्रम में मनुष्य स्वयं बह जाता है। भलाई इसी में है कि हम उसकीगति को तट पर खड़े हुए दर्शक की भाँति ही देखते रहें।

जया—(गंभीर स्वर में) अरजा ! क्या यही तट-स्थता ही जीवन-यौवन की सार्थकता है ? मुझेतो शंका होने लगी है।

अरजा—(गँभीर वाणी में) यह तुम्हारी दुर्वलता है जया ! तप और संयम का नाम ही जीवन है। मानव-योनि सरलता से नहीं मिलती उसे व्यर्थ ही गँवाना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है।

जया—(निश्वास छोड़ कर) यही तो मैं भी सोचती हूँ अरजा ! मानव-योनि अनेक पुन्यों से प्राप्त होती है। उसे इस प्रकार नष्ट करना...

अरजा—(बीच में ही तीव्रता से) जया !

जया—(उसी प्रकार) हाँ अरजा ! मैं सच कह रही हूँ। तप और संयम जरा के लिये हैं। यौवन.....यह अमूल्य रत्न जिसका एक एक क्षण भी अमूल्य है-इस प्रकार नष्ट करने की वस्तु नहीं है।

अरजा—(गंभीर स्वर में) ऐसी भावना तुम्हारे लिये अशोभनीय है जया। यदि पिता जी को तुम्हारी यह दुर्बलता ज्ञात हो गई तो.....

जया—(हँस कर) क्या होगा ? यही न कि वे मुझे आश्रम से निष्काशित कर देंगे। उसकी मुझे चिन्ता नहीं। मैं स्वयं आश्रम छोड़कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहती हूँ।

अरजा—मुझे तुम्हारे इस पागलपन पर हँसी आती है। पिताजी के स्वभाव से तुम परिचित हो। क्या तुम समझती हो कि वे तुम्हें आश्रम से निष्काशन का दंड देंगे ? नहीं ऐसा सोचना तुम्हारी भूल है।

जया—(उत्सुकता से) फिर क्या दंड देंगे ?

अरजा - (मृग-शावक को छोड़ कर खड़ी होती हुई) जानना चाहती हो ? तो सुनो। यदि उन्हें वासना के प्रति तुम्हारी अनुरुक्ति का ज्ञान हो गया तो वे क्रोध से पागल हो उठेंगे और तुम्हारी आत्मशुद्धि के लिए तुम्हें कठोर से कठोर तप करने का दंड देंगे।

जया—(तिलमिला कर खड़ी होती हुई) अरजा ! उस कठोर तप के दंड को कदाचित मैं सहन भी करलूँ पर.....पर तुम्हारे यह वाक्य-शर मेरे लिए असह्य हैं। तुम्हारा नारीत्व मर गया है इसी लिए तुम मेरी भावना को वासना की संज्ञा देने में संकुचित नहीं होतीं।

[क्रोध के कारण जया काँपने लगती है। अरजा बिस्मय से उसकी ओर देखती है। वह मौन रहती है। मृग-शावक उछलता हुआ दाहिनी ओर चला जाता है।]

अरजा—(मंद स्वर मे) जया ! यदि मेरे शब्दों से तुम्हें दुख पहुँचा है तो मैं क्षमा चाहती हूं।

जया—(अरजा की ओर देखकर कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात्) इसमें तुम्हारा दोष नहीं, संस्कारों का दोष है। अपने कठोर पिता के अनुशासन में रहकर तुम अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोचुकी हो।

[अरजा एक फूल तोड़ कर उसकी पँखुरियों को तोड़ तोड़ कर भूमि

पर फेंकने लगती है।]

जया—इस आश्रम में मैं भी दस वर्ष से रह रही हूँ किन्तु अब मेरे सुप्त संस्कार जाग गये हैं। मैं नारी हूँ अरजा! नारी का जीवन तप के लिए नहीं है। उसका जन्म तो एक सफल पत्नी तथा माता बनने से ही सार्थक होता है।

अरजा—(फूल फेंक कर तीव्र स्वर में) अपने विचारों को अपने तक ही सीमित रक्खो जया! यदि तुम्हारी इच्छा यही है कि तुम एक पत्नी तथा माता बनो तो तुम्हें रोकता ही कौन है?

जया—(व्यंग से) तुम्हारे पिता का कठोर शासन! किन्तु आज मैंने विद्रोह करने का निश्चय कर लिया है। गुरुवर के आते ही मैं अपनी हार्दिक कामना प्रकट कर दूंगी। यदि उन्होंने मुझे आज्ञा दे दी तो ठीक है, अन्यथा.....

अरजा—(व्यग्रता से) अन्यथा.....?

जया—अन्यथा मैं रात के गहन अंधकारमें आश्रम छोड़ कर चली जाऊँगी।

अरजा—(दुखी स्वर में) बहन! मैं तुम्हारे निश्चय में कोई बाधा डालना नहीं चाहती। पर हाँ, इतना ध्यान रखना कि यह संसार छलो है। इसके मार्ग में पग पग पर जाल बिछे हैं।

जया—(दृढ़ स्वर) मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। अपने प्रेमी के साथ मैं नरक में भी प्रसन्न रहूँगी।

अरजा—प्रेमी? संसार में केवल एक ही प्रेम सच्चा है और वह है आत्मा की परमात्मा के प्रति लगन। अन्य प्रेम प्रवन्चना है।

जया—प्रेम के महत्व को तुम क्या जानो अरजा?

अरजा—मैं प्रेम के महत्व को भले न जानूँ पर उसकी वास्तविकता को अवश्य जानती हूँ। कौन किससे प्रेम करता है पगली? भ्रमरवृति वाले पुरुष नारी से नहीं उसके स्वस्थ तथा सुन्दर शरीर से प्रेम करते हैं। यह प्रेम प्रेम नहीं, भूख होती है। यौवन के ढलते ही वे दूसरी कली की खोज में व्यस्त हो जाते हैं।

[जया उपेक्षा की दृष्टि से अरजा की ओर देखती है]

अरजा—तुम मेरी बातों पर मन ही मन हँस रही होगी। ठीक भी है। किन्तु एक दिन तुम्हें मेरी बातों का मूल्य ज्ञात होगा।

जया—वह दिन कभी न आयेगा अरजा।

अरजा—वह दिन दूर नहीं है जया! उस दिन भी इस आश्रम के द्वार तुम्हारे लिये खुले रहेंगे।

[नेपथ्य से घंटियों का स्वर आता है।]

अरजा—(चौंक कर) यह शब्द कैसा?

जया—कदाचित कोई रथ आ रहा है।

[दोनों उस शब्द को ध्यान से सुनती हैं। स्वर समीप आ रहा है।]

अरजा—रथ तो इसी ओर आ रहा है। कहीं पिताजी तो नहीं हैं?

जया—नहीं! गुरुवर रथ पर क्यों आयेंगे। कोई और होगा।

[दाहिनी ओर से मृग-शावक दौड़ता हुआ आता है। उसकी आँखों में भय का भाव है। अरजा उसे हृदय से लगा कर बैठ जाती है तथा उसके सर पर ममता पूर्ण हाथ फेरती है। रथ का शब्द समीप आकर रुक जाता है। नेपथ्य से पुरुषों का स्वर आता है।]

पहला पुरुष—इसी ओर गया है।

दूसरा पुरुष—तुम यहीं ठहरो सारथी। मैं देखता हूँ।

[पदचाप सुनाई देती है। जया और अरजा विस्मय से उसी ओर देखती हैं। दाहिनी ओर से राजसी वेशभूषा में एक व्यक्ति का प्रवेश। उसकी आयु लगभग ४० वर्ष है। रंग गोरा है। बाल कंधों पर लहरा रहे हैं उसकी पीठ पर तूणीर कसा है और हाथ में बाण चढ़ा हुआ धनुष है। मृग-शावक भीत दृष्टि से उसकी ओर देखकर अरजा की गोद में अपना सर छिपा लेता है। अरजा उसके सर पर हाथ फेरती रहती है। वह व्यक्ति जया की ओर एक उड़ती हुई दृष्टि डालकर अरजा की ओर अपलक दृष्टि से देखता है।]

अरजा—(क्रुद्ध स्वर में) क्या तुम्हें ज्ञात नहीं आखेटक कि यह ऋषि भार्गव का आश्रम है जहाँ सिंह और मृग एकही घाट में जल पीते हैं? यह मृग-शावक मेरा है। तुम इस अबोध का बध करना चाहते हो?

व्यक्ति—(नम्र स्वर में अरजा की ओर उसी दृष्टि से देखता हुआ) भूल हुई देवि ! क्षमा चाहता हूँ। (धनुष से बाण उतार कर तूणीर में रखता हुआ) ऐसा अपराध फिर नहीं होगा।

अरजा—(आदेश के स्वर में) जाओ ! फिर कभी हिंसा के भाव से इस आश्रम की ओर आने का दुस्साहस न करना ।

व्यक्ति—ऐसा ही होगा देवि ! किन्तु क्या मैं देवकन्या तुल्य आपका परिचय पाने का सम्मान प्राप्त कर सकता हूँ ?

जया—विश्व प्रसिद्ध ऋषि भार्गव की पुत्री अरजा को कौन नहीं जानता ? मैं इनकी सहेली और इसी आश्रम में रहने वाली जया हूँ।

व्यक्ति—(जया की ओर देखकर फिर अरजा पर दृष्टि गड़ाते हुये) मैं धन्य हुआ देवि ! यह अकिंचन विन्ध्य प्रदेश का शासक दण्ड है !

[जया तथा अरजा विस्मय एवं आदर से उसकी ओर देखती हैं। अरजा उठकर खड़ी हो जाती है। मृग शावक आश्रम की ओर भाग जाता है।]

अरजा—(विनम्र स्वर में) अज्ञान में मैं जाने क्या क्या बक गई। आशा है आप मेरे प्रति कोई दुर्भावना लेकर नहीं जायेंगे !

दण्ड—(मुस्करा कर) मुझ जैसे हिंसक व्यक्ति को जो कुछ कहा जाये कम है। मैं इसी योग्य हूँ !

अरजा—(दृष्टि नीची करके) मैं तो आपको साधारण आखेटक ही समझी थी राजन् ! इसीलिये अपशब्द कहगई। यदि ज्ञात होता कि ..... ।

दण्ड—(अरजा की ओर दो पग बढ़कर मीठे स्वर में) अपने दुष्कर्म पर स्वतः लज्जित को अधिक लज्जित न करें देवि ! मैं वास्तव में साधारण तथा नया आखेटक हूँ तभी तो..... !

अरजा—कहिये ! रुक क्यों गये राजन् ?

दण्ड— तभी तो इतना महान अपराध हुआ मुझसे ! (हँसता है) ! क्या मेरा अपराध इतना गुरु है कि मुझ तृषित को आश्रम का पवित्र जल भी न मिले ?

अरजा—(हँसकर) आप शस्त्र तथा शब्दों के प्रयोग में समान पटु

विदित होते हैं। (जया की ओर मुड़कर) जया ! इनके लिए शीतल जल तथा फलों की व्यवस्था करो !

[जया जाने का उपक्रम करती है ।]

दण्ड—ठहरिये ! फल लाने का कष्ट न करें ! मैं प्यासा हूँ, भूखा नहीं !

[दण्ड अरजा की ओर देखकर मुस्कराता है । वह उसकी दृष्टि तथा मुस्कान से व्याकुल होकर सिर झुका लेती है । जया जल लेने के लिए आश्रम की ओर चली जाती है ।]

दण्ड—देवि ! आज तो मैंने एक विचित्र कौतुक देखा है ?

अरजा—वह क्या राजन् ?

दण्ड—यही कि बनवासिन मृगी भी नगर के आखेटकों का आखेट करना जानती है । यह कला उसने कहाँ से सीखी ? कदाचित मदन महीप ने उसे यह चातुर्य प्रदान किया है !

अरजा—(दण्ड की दृष्टि बचाकर) मैं आपका आशय समझी नहीं राजन् ।

दण्ड—(निःश्वास छोड़ कर) यह मेरा दुर्भाग्य है देवि ! मैं आया था आखेट खेलने किन्तु स्वयं किसी के दृष्टि-बाणों का लक्ष्य बन गया हूँ ।

अरजा—(कुछ क्रुद्ध स्वर में) राजन् ! मैं इस प्रकार की भाषा सुनने की अभ्यस्त नहीं हूँ । नगर की भाषा आप नगर में ही प्रयुक्त किया करें । यह पवित्र आश्रम है ।

दण्ड—(आगे बढ़कर नम्र स्वर में) अपराध क्षमा हो देवि ! पर आप भूलती हैं । यह भाषा सर्वव्यापिनी है । मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षी भी इसका प्रयोग करते हैं ।

अरजा—(उसी स्वर में) किन्तु न मैं साधारण स्त्री हूँ और न पशु पक्षी ! मैं स्वनामधन्य ऋषि भार्गव की कन्या हूँ । तप ही मेरा जीवन है ।

दण्ड—जीवन की सार्थकता तप में नहीं, प्रेम में है ।

अरजा—प्रेम आत्म प्रवञ्चना है राजन् !

दण्ड—आपका यह भाव ही छलना है । प्रेम सत्य है, अमर है ।

आप अपने को छल रहीं हैं।

[अरजा व्याकुल भाव से इधर उधर टहलती है। आश्रम की ओर से एक पात्र में जल लिये हुये जया का प्रवेश! वह पात्र दण्ड को देकर जाने लगती है।

अरजा—(व्यग्रस्वर में) ठहरो जया!

दण्ड—(आदेश पूर्ण किन्तु नम्र स्वर में) आप जायें देवि! हाँ इस शीतल जल के लिए शत शत धन्यवाद!

[दण्ड जल पीकर पात्र एक ओर रख देता है। जया कभी दण्ड की ओर और कभी अरजा की ओर देखती है। वह निश्चय नहीं कर पाती कि जाये अथवा नहीं। तभी दण्ड फिर उसकी ओर कठोर दृष्टि से देखता है। वह तीव्र गति से आश्रम की ओर चली जाती है।]

दण्ड—(गंभीर स्वर में) मृग तृष्णा से जीवन की प्यास नहीं बुझती देवि! इस शीतल जल ने तो मेरे हृदय में सुलगी हुई ज्वाला को और भी अधिक प्रज्वलित कर दिया है।

अरजा—(जैसे चौंक कर) ज्वाला! कहाँ है ज्वाला?

दण्ड—(निकट जाकर अपने हृदय पर हाथ रखता हुआ) यहाँ देवि! आपको देखकर रोम रोम में आग लग गई है। मैं पीड़ा से पागल हुआ जा रहा हूँ।

अरजा—(पीछे हटकर) मैं.....मैं.....!

दण्ड—(और आगे बढ़कर) दृष्टि के विषाक्त बाणों की ज्वाला को अधरों की सुधा ही शान्त कर सकती है।

[दण्ड आगे बढ़कर अरजा को बाहु पाश में बाँधना चाहता है किन्तु वह पीछे हट जाती है।]

अरजा—विन्ध्य प्रदेश के शासक के लिए ऐसा व्यवहार अशोभनीय है। आप कामान्ध हो रहे हैं राजन्!

दण्ड—(चीख कर) राजन् राजन् राजन्! मैं इस सम्बोधन को सुनते सुनते थक गया हूँ। क्या राजा मनुष्य नहीं होता, क्या उसके हृदय और भावनायें नहीं होतीं?

अरजा—भावनाओं पर विजय पाना ही सच्चा जीवन है।

दण्ड—मैं प्रेम में अन्धा हो गया हूँ। आपके अपरिमित रूप ने मुझ पर जादू कर दिया है।

अरजा—किन्तु यह रूप तो क्षणिक है अतः उसके प्रति आसक्ति होना ठीक नहीं!

दण्ड—मेरे पास व्यर्थ का उपदेश सुनने का अवकाश नहीं है। देवि! आओ और मधुर आलिंगन से मुझे तृप्त करो!

अरजा—(पीछे हटकर) आप मेरे शरीर के भूखे हैं, मेरे माँस के भूखे हैं। आप मनुष्य नहीं, मनुष्य के वेश में माँस भक्षी हिंसक पशु हैं।

दण्ड—(विनीत स्वर में) इतनी निष्ठुरता उचित नहीं देवि! मेरी राजधानी मधुमन्त युगों से आपकी प्रतीक्षा कर रही थी। मैं आपको सम्राज्ञी बनाऊँगा!

अरजा—(उपेक्षा के स्वर में) क्या मुझे प्रलोभन दिया जा रहा है!

दण्ड—नहीं देवि। यह प्रलोभन नहीं, वास्तविकता है! इस अतुलित सरल सौन्दर्य तथा मादक यौवन के लिए यह वन उपयुक्त स्थान नहीं है। इसके लिए तो राज-प्रसाद हैं।

अरजा—मेरा राज प्रासाद यही आश्रम है!

दण्ड—रूप के इस विकसित सुमन के लिए वन में फूलना न फूलना एक समान है। मेरा रथ उधर खड़ा है। चलिये मै आपको अपने राज-उद्यान में सजाऊँगा!

अरजा—(तीव्रस्वर में) रूप-रस के लोभीभ्रमर। तूने अपनी वास्तविकता प्रकट कर दी! जा किसी अन्य फूल पर अपने डोरे डाल! चम्पा की तीव्र गन्ध तू सहन न कर सकेगा!

दण्ड—(क्रोध से) अबोध लड़की! तू मेरा अपमान कर रही है।

अरजा—पर कन्या का हरण करने की कामना करने वाले पुरुष का जो अपमान किया जाये कम है।

दण्ड—हरण? मैं हरण नहीं, वरण करना चाहता हूँ।

अरजा—यदि ऐसा है तो मेरे पिता से मेरे लिए याचना करो!

दण्ड—पिता?

अरजा—हाँ! वे समीप ही के एक आश्रम में गये हैं! अब आते

ही होंगे !

दण्ड—पर मुझे इतना अवकाश नहीं कि मैं उनकी प्रतीक्षा करूँ। मैं उतावला हो रहा हूँ तुम्हें अपने हृदय से लगाने के लिए। आओ ! सुन्दरी ! समीप आओ !

[दण्ड बाहें फैलाकर आगे बढ़ता है। अरजा भय से पीछे हटती है।]

अरजा—दूर रहो मुझ से ! अपने अपावन स्पर्श से मेरे पवित्र शरीर को कलुषित न करो !

दण्ड...(क्रोध से) इतना मान ? देखता हूँ, तुम्हें कौन बचाता है ?

अरजा—(क्रोध से) अपनी रक्षा मैं स्वयं करलूँगी। रति और रंभा समय बनने पर दुर्गा और काली भी बन सकती हैं।

दण्ड—(हँसता है) देखता हूँ !

[दण्ड झपट कर अरजा को पकड़ने की चेष्टा करता है। वह बचने का यत्न करती है पर बच नहीं पाती। दण्ड उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचता है।]

अरजा—(हाथ छुड़ाने का निष्फल प्रयास करती हुई) छोड़ मेरा हाथ ! दुष्ट ! पापी ! पामर !

दण्ड—(भयंकर हँसी हँसकर) क्रोध तुम्हारे सौन्दर्य में चार चाँद लगा देता है।

[दण्ड उसके हाथ को और खींचता है। अरजा अपने शरीर का समस्त बल लगा कर उसका हाथ अपनी ओर खींचती है और मुँह झुका कर उस के हाथ में काट लेती है। दण्ड के मुख से एक धीमी सी चीख निकल जाती है। वह अरजा का हाथ छोड़कर पुनः उस की ओर वेग से झपटता है। अरजा भागने की चेष्टा करती है पर दण्ड उसे पकड़ लेता है।]

दण्ड—(उसे नेपथ्य की ओर खींचता हुआ) अब देखता हूँ तुझे मेरे चंगुल से कौन बचाता है ?

अरजा—छोड़, छोड़ मुझे ! कामी कुत्ते ! भूखे भेड़िये ! छोड़ मेरा हाथ !

[दण्ड उसे बाहर खींच ले जाता है।]

दण्ड—(नेपथ्य से) भूखा भेड़िया ! हा ! हा ! हा ! मैं भूखा भेड़िया हूँ । तू भोली भेड़ । (हँसता है) तेरे कोमल माँस से मैं अपनी क्षुधा शान्त करूँगा ।

[नेपथ्य से अरजा की भयंकर चीख आती है । उसके पश्चात् दण्ड की भयकर हँसी और अरजा की सिसकियों का शब्द आता है । एक पलवाद नीरवता छा जाती हैं । आश्रम की ओर से कई व्यक्तियों की पदचाप आती है दौड़ती हुई जया का प्रवेश ! उस के पीछे अन्य आश्रमवासी हैं ।]

जया (इधर उधर देख कर) कहाँ गई अरजा ? चीख तो उसी की थी !

एक आश्रमवासी—(तीव्रस्वर में) अरजा! अरजा ! कहाँ हो तुम ?

[प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा में सब लोग मौन रहते हैं । पर प्रत्युत्तर नहीं आता । आश्रमवासी का पुकार की प्रतिध्वनि ही गूँजती रहती है ।]

जया—(व्याकुल स्वर में) अरजा ! बहन अरजा !

[नेपथ्य से रथ चलने का शब्द आता है । जया व्याकुलता से उस ओर देखती है ।]

जया— ज्ञात होता है कि दुष्ट दण्ड अरजा का हरण कर ले गया है । चलो उधर चल कर देखें !

[आगे आगे जया और उसके पीछे आश्रम वासी जाते हैं । नेपथ्य से उनके स्वर सुनाई देते हैं।]

जया—रथ तो चला गया ! हा ! बहन अरजा ! तुम्हारी क्या दशा होगी ?

एक आश्रम वासी—बहन जया ! देखो उस कुंज में क्या है । अरे यह तो अरजा ही विदित होती है ।

जया—(व्यग्र स्वर में) हां ! अरजा ही है ! अरे ! यह तुम्हारी क्या दशा हुई है बहन ? चलो, उधर चलो !

[एक क्षण बाद सब आते हैं । अरजा के वस्त्र अस्त व्यस्त हैं । उसके मुख पर गहन वेदना के भाव तथा आँखों में आँसू हैं । वह शिला पर बैठ जाती है । जया भी समीप ही बैठ जाती है । आश्रमवासी खड़े रहते हैं ।]

जया—क्या हुआ बहन ?

अरजा—(आर्द्र स्वर में) जया ! दुष्ट दण्ड ने मेरे पवित्र शरीर को भ्रष्ट कर दिया है।

[अरजा रोने लगती है। जया उसकी पीठ पर हाथ फेरती है। आश्रमवासी पीछे हट जाते हैं।]

एक आश्रमवासी—उसे न छुओ जया ! वह अपवित्र है, भ्रष्टा है !

दूसरा आश्रमवासी—हाँ जया ! दूर हट आओ ! अरजा अब इस आश्रम में रहने योग्य नहीं है।

[अरजा कातर दृष्टि से सबकी ओर देखकर फिर जया की ओर देखती है।]

जया—(तीव्र स्वर में) चुप रहो तुम लोग ! अरजा अब भी गंगा जल की भांति पवित्र है। तुम पुरुष हो इसलिए ऐसी बातें कर रहे हो।

[दाहिनी ओर से ऋषि भार्गव का प्रवेश। उनकी अवस्था लगभग ५० वर्ष है। तपस्वियों जैसा वेश है। मुख पर अनन्त तेज है। ऋषि को देखकर सब प्रणाम करते हैं। अरजा और जया खड़ी हो जाती हैं। वे मौन हैं।]

भार्गव—क्या बात है अरजा ?

[अरजा मौन रहती है। उसकी आँखें भूमि पर गड़ी हैं।]

भार्गव—क्या बात है ? तुम लोग मौन क्यों हो ?

जया—(आगे बढ़कर दृष्टि नीची किये हुए) विन्ध्य प्रदेश का शासक दण्ड यहाँ आया था !

भार्गव—(बीच में ही) क्या उसने आश्रम के किसी पशु-पक्षी का आखेट करने की धृष्टता की है ?

जया—नहीं गुरुवर ! उसने बल पूर्वक अरजा का कौमार्य.....

भार्गव—(क्रुद्ध होकर भयंकर स्वर में) क्या यह सत्य है अरजा ?

[अरजा सिसकियाँ भरती हुई जया के कंधे पर अपना सर टिका देती है]

भार्गव—दुष्ट, पापी, नीच दण्ड ! तेरा इतना साहस, इतनी धृष्टता ! तुझे इस पाप का फल भुगतना पड़ेगा ! मैं प्रण करता हूँ कि

एक सप्ताह के अन्दर तेरा राज्य भस्म कर दूँगा !

[भार्गव क्रोध के कारण काँपने लगते हैं। आश्रमवासी भयभीत हो कर आश्रम की ओर भागते हैं। नेपथ्य से उनका स्वर आता है।]

आश्रमवासी—(नेपथ्य से) भागो, भागो ! गुरुवर ने विन्ध्य प्रदेश को भस्म करने का प्रण किया है। चलो, चलो ! तुग्न्त आश्रम छोड़कर कहीं और चले चलो ! इसी में कुशल है !

[धीरे धीरे स्वर दूर तथा धीमा होता जाता है।]

भार्गव—(अरजा की ओर मुड़कर) ओ कुल कलंकिनी ! जन्म के साथ ही तूने मृत्यु का आह्वान क्यों न कर लिया ?

अरजा—(भीगे स्वर में) पिता जी..... !

भार्गव—चुप रह ! तेरे पाप का यही प्रायश्चित है कि तू इसी आश्रम में एकाकी रहकर कठिन तप कर ! यही तेरे लिए उचित दंड है।

अरजा—आपकी आज्ञा शिरोधार्य है पिताजी ! किन्तु मैं निर्दोष हूँ!

भार्गव—(कठोर स्वर में) अपने को निर्दोष कहकर तू क्षमा नहीं पा सकती। यह दंड तो.....

अरजा—(बीच में ही तीव्र स्वर मे) पिताजी ! मैं क्षमा नहीं चाहती और न दया की ही याचना करती हूँ। आपका दिया हुआ दंड मेरे लिए वरदान है। किन्तु इतना मैं अवश्य कहूँगी कि मेरा तन भले ही भ्रष्ट कर दिया गया हो, मेरा मन अब भी गंगा जल के समान पवित्र है। भगवान भास्कर इसके साक्षी हैं। दुष्ट दानव ने.....

भार्गव—मैं कुछ सुनना नहीं चाहता.....!

अरजा—(उसी स्वर में) आपको सुनना ही पड़ेगा ! आप इस प्रकार का दंड देकर केवल मेरे साथही नहीं वरन् समस्त नारी जाति के साथ अन्याय कर रहे हैं। आप केवल मुझे ही नहीं वरन् समस्त नारी जाति को दंड दे रहे हैं। युगों युगों तक नारी इसे भुगतेगी.....!

भार्गव—पतित होने के साथ ही तू उद्दंड भी होगई है। (कठोर स्वर में) जया ! जा, तू भी जा !

[जया खड़ी रहती है।]

भार्गव-सुना नहीं तूने ! यह दंड अरजा को एका की रह कर ही भुगतना

होगा। शीघ्र ही आश्रम त्याग दे !

जया—(अरजा का हाथ पकड़ कर) बहन। मुझे क्षमा करना ! मैं भूल रही थी ! मेरी आँखें खुल गई हैं।

[जया का गला रुँध जाता हैं। वह सिसकती हुई तीव्र गति से आश्रम की ओर चली जाती है।]

भार्गव—मैं भी जा रहा हूँ। तू यहीं रह कर अपने पाप का प्रायश्चित कर !

अरजा—पाप ? मैंने कोई पाप नहीं किया है ! दण्ड के पाप के लिए आप मुझे दंड देरहे हैं। पुरुष के पाप के लिए नारी को दंड दिया जा रहा है ! क्यों ? क्यों कि आप भी पुरुष हैं ! आपका यह दंड नारी जाति के लिए अनन्त शाप की भाँति है। जब तक सृष्टि रहेगी, जब तक नारी पुरुष पर आश्रित रहेगी, तब तक ऐसा ही होगा। पुरुष पाप करेगा और दंड दिया जायेगा नारी को ! (सिसकने लगती है।)

भार्गव—यह अनर्गल प्रलाप सुनने के लिए मेरे पास समय नहीं है।

[भार्गव ऋषि का प्रस्थान]

अरजा—(शिला पर बैठकर) नारीको शाप मिला, नारी को दंड मिला ! क्यों.....? इस शाप और दंड का कारण है पुरुष का पाप...! पुरुष का पाप.....।

[अरजा अपनी बाहों में मुँह छिपा कर रोने लगती है उसकी सिसकियों का स्वर गूँजता रहता है। धीरे धीरे यवनिका गिरती है।]

* * *

पत्नी--परित्याग

जहाँ नारी की पूजा होती है वहीं स्वर्ग है ।
अयोध्या में सीता का
निरादर हुआ ।
वे गईं तो फिर लौटकर उस नरक में नहीं आईं ।

पात्र तथा स्थान

राम—कौशल-नरेश ।
सीता—राम की पत्नी ।
मल्लिका—मल्लक रजक की पत्नी ।
मल्लक—अयोध्या का एक रजक ।
वशिष्ठ—राज-गुरु ।
लक्ष्मण—राम के अनुज ।
कौशल्या—सुमित्रा—कैकेयी—रामकी मातायें ।
भरत—शत्रुघन—रामके अनुज ।
दंडनायक, प्रतिहारिणी आदि ।

स्थान—अयोध्या के राज-प्रसाद का एक कक्ष ।
समय—प्रातः काल ।

[कक्ष वर्गाकार है जिसकी प्रत्येक भुजा लगभग २० फीट है। सामने की ओर एक द्वार है जिस पर जालीदार रेशमी पर्दा पड़ा है। यह द्वार अन्तःपुर जाने के लिये है। दाहिनी ओर की खिड़की खुली है। उसमें से होकर प्रातःकालीन सूर्य की किरणें अन्दर आ रही हैं। बाईं ओर का द्वार बाहर जाने के लिये है। फ़र्श पर मोटा क़ालीन बिछा है। सामने की भीति से सटा हुआ द्वार के समीप ही एक तख़्त पड़ा है जिसके पाये चाँदी के हैं और उनपर सुनहला काम है। तख़्त पर मोटा रेशमी गद्दा बिछा है और दो मोटी मसनदें रक्खी हैं। तख़्त के समीप ही एक चौकी है जिस पर कुछ नहीं बिछा है। सामने के द्वार का पर्दा हटा कर राम आते हैं। उनके साथ सीता भी हैं। दोनों प्रसन्न मुद्रा में हैं। राम तख़्त पर बैठने का उपक्रम करते हैं।]

सीता—ठहरिये आर्य !

[राम रुक जाते हैं। सीता आगे बढ़कर अपने अंचल से गद्दा स्वच्छ करती हैं। राम उनका हाथ पकड़ लेते हैं।]

राम—तुम से कई बार कह चुका हूं सीते कि तुम्हें अब यह सब नहीं करना चाहिये ! बैठो !

[दोनों बैठ जाते हैं। सीता का मुख म्लान हो जाता है।]

सीता—(दुखी स्वर में) मुझे अपनी सेवा से क्यों वंचित रखते हैं आप ? न चरण धोने देते हैं, न शरीर दाबने देते हैं, न व्यजन डुलाने देते हैं, न शिर····!

राम—(बीच में ही) मेरी सेवा तो हो चुकी, अब अपनी सेवा करो सीते ! (हँसकर) तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है आजकल ।

सीता—(कृत्रिम रोष से) क्या मैं वृद्धा हो गई हूँ, क्या मैं श्रम नहीं कर सकती, क्या मैं·····!

राम—(हँसकर बीच में ही) बस, बस, बस ! यह कौन कहता है कि तुम श्रम नहीं कर सकती ? पर माता जी की आज्ञा भूल गईं क्या ?

सीता—(हँसकर) लीजिये, अब विस्मरण का दोष भी लगने लगा ।

राम—वाक्-पटुता में तुम से कोई नहीं जीत सकता·····!

सीता—(बीच में ही) आप भी नहीं ?

राम—कदापि नहीं । मैं अपनी पराजय मानता हूँ ! अच्छा देखो, तुम्हें चाहिये कि आजकल प्रसन्न-चित्त रहा करो, व्यर्थ की चिन्ताओं को हृदय से दूर रक्खो, पूर्ण विश्राम लो और···!

सीता—(बीच में ही) और·····?

राम—बताऊँ अभी·····?

[दोनों हँसते हैं । सीता के गोरे कपोलों पर लाज की लालिमा फिर आती है ।]

सीता—मैं तो सदैव आप के ही ध्यान में डूबी रहती हूँ जिससे आप के समान ही धर्मज्ञ, नीतज्ञ, वीर, पराक्रमी, और·····!

[सीता लज्जा से शिर झुका लेती हैं । नेपथ्य से किसी स्त्री के रोदन का स्वर आता है । साथ ही साथ प्रतिहारी की गंभीर वाणी भी सुनाई देती है ।]

सीता—कौन है यह स्त्री ?

राम—अभी पता लगाता हूँ ।

[राम ताली बजाते हैं । बायें द्वार से एक प्रतिहारिणी आती है ।]

राम—देखो कौन स्त्री है बाहर ?

[प्रतिहारिणी चली जाती है ।]

राम—कोई दुखिया होगी बिचारी ! कुछ याचना करने आई होगी ।

सीता—अयोध्या में कोई दुखी भी है यह आज ही ज्ञात हुआ । इसके दुख का निवारण होना ही चाहिये आर्य !

[प्रतिहारिणी का प्रवेश ।]

प्रतिहारिणी—राजन्! एक दुखी स्त्री आपकी सेवा में उपस्थित होना चाहती है। उसके पति ने उसे गृह से निकाल दिया है।

राम—गृह से निष्कासित कर दिया है? क्यों? उसे अविलम्ब उपस्थित करो।

[प्रतिहारिणी सर झुकाकर चली जाती है।]

सीता—पत्नी का परित्याग कर दिया! क्या अयोध्या मे ऐसे भी पुरुष है आर्य?

राम—कोई भी पुरुष ऐसा कार्य नहीं कर सकता। पुरुष के वेश में यह कोई पशु है जिसने इस प्रकार का जघन्य कर्म किया है।

सीता—मै तो इस प्रकार के पतन की कल्पना भी नहीं कर सकती थी।

[प्रतिहारिणी का प्रवेश। उसके पीछे एक अधेड़ स्त्री है जिसके बाल बिखरे हैं और वस्त्र अस्त-व्यस्त है। वह दौड़ कर राम के चरणों पर गिर जाती है। राम उसे उठाते हैं। प्रतिहारिणी बाहर चली जाती है।]

राम—भद्रे! शान्त हो! आपका क्या नाम है?

स्त्री—(रोते हुये) मल्लिका! महाराज मैं मल्लक रजक की पत्नी हूँ। मेरे पति ने.....मेरे पति ने मुझे घर से निकाल दिया है, मेरा परित्याग कर दिया है।

सीता—हमें ज्ञात है बहन! अब आप चिन्ता न करें! हम न्याय करेंगे!

राम—हाँ, भद्रे! राम-राज्य में स्त्री और पुरुष को समान अधिकार हैं। अपनी पत्नी का परित्याग करने वाला पति पति नहीं, पशु है।

सीता—बहन! किस कारण आपके पति ने ऐसा कठोर दंड दिया है आपको? क्या आपने कोई गुरुतम अपराध किया है?

मल्लिका—नहीं, देवी नहीं! मैंने कोई अपराध नही किया।

राम—आपने अपने पति के हृदय को ठेस पहुँचायी, उनके शत्रु से मित्रता का व्यवहार किया, उनके मित्र का अनादर किया उनके

साथ विश्वासघात किया.....!

मल्लिका—(सिसकते हुये) नही महाराज! मैने ऐसा कोई दुष्कर्म नहीं किया । मेरा अपराध इतना ही था कि मै कल रात को अपनी सहेली के निवास-स्थान पर रह गई। कल सन्ध्या समय उनके यहाँ कथा थी। कथा की समाप्ति पर कीर्तन हुआ। भोजन करते करते अर्ध-रात्रि हो गई। सहेली ने वही रहने का अनुरोध किया। उनके अनुरोध को मैं न टाल सकी महाराज! और.....और जब आज प्रातः समय घर गई तो पति ने... . पति ने मझे ठोकर मारकर घर से निकाल दिया।

[मल्लिका फूट फूट कर रोने लगती है। सीता उसे धीरज बँधाती है।]

राम—यह तो कोई अपराध नही था। इसके लिये इतना भयंकर दड! क्या वह यह भूल गया कि उसने जीवन भर निबाहने का तुम्हे वचन दिया है?

सीता—पुरुष के वचन का क्या मूल्य! आर्य, कब तक पुरुष नारी को अपने चरणों की दासी समझता रहेगा, कब तक वह उसे अपने अन्यायों, अत्याचारों और प्रतारणाओं का लक्ष्य बनाता रहेगा?

राम—पुरुष और नारी समाज के दो स्तम्भ है। समाज का प्रासाद दोनों पर टिका है। दोनों को समान महत्व देना चाहिये। नारी को हीन समझना भूल है।

सीता—इस भूल का प्रतिकार होना ही चाहिये। मल्लिका निर्दोष है और निर्दोष को दंड मिलना घोर अन्याय है।

राम—राम-राज्य मे अन्याय नही होगा। विश्वास रक्खो! तुम इन्हें अपने कक्ष मे ले जाओ। स्वच्छ वस्त्र और अच्छा भोजन दो। मैं अभी मल्लिक के यहाँ दन्डनायक को भेजता हूँ।

[दोनों सामने वाले द्वार की ओर बढ़ती है।]

राम—ठहरो भद्रे। आपने अपने गृह का पता तो बताया ही नहीं!

मल्लिका—सरयू के किनारे ही रजकों का मोहाल है महाराज! वहाँ किसी से भी पूछने पर मल्लिक के गृह का पता लग जायगा।

राम—ठीक है। मैं अभी दन्डनायक को भेजने की व्यवस्था करता हूँ।

[सीता और मल्लिका चला जाती हैं। राम ताली बजाते हैं। प्रतिहारिणी आकर खड़ी हो जाती है।]

राम—दंडनायक को आदेश दो कि सरयू-तट पर बसे रजकों के मोहाल में जाकर मल्लक रजक को तुरन्त पकड़ लायें।

[प्रतिहारिणी का प्रस्थान। राम व्यग्र भाव से कक्ष मे टहलते रहते हैं। उनकी मुद्रा गंभीर है।]

राम—(मन्द स्वर में) अकारण ही पत्नी का परित्याग! सुख-दुख की संगिनी का गृह से निष्कासन!! इससे अधिक अधम कर्म और क्या हो सकता है? दंड……उस दुष्ट मल्लक को दंड अवश्य मिलेगा और वह दंड इतना कठोर होगा—इतना कठोर होगा कि भावी सन्तान उससे शिक्षा लेगी!

[सामने के द्वार का पर्दा हटाकर सीता का प्रवेश।]

सीता—क्या सोच रहे हैं?

राम—कुछ नहीं! मल्लिका देवी कहाँ हैं?

सीता—स्नान कर रही हैं। आपने दंडनायक को भेजा?

राम—हाँ! मैं नीच मल्लक को कठिन से कठिन दंड दूँगा।

सीता—देना ही चाहिये! नारी के साथ अभद्रता, उसका अपमान, निरादर किसी भी समाज में क्षम्य नहीं है।

राम—होना भी नहीं चाहिये। नारी शक्ति का स्वरूप है। उसका निरादर नहीं, आदर करना चाहिये।

सीता—मेरी समझ में नहीं आता कि उसका इतना साहस कैसे हुआ?

राम—क्रोध मनुष्य को अन्धा कर देता है सीते! सम्भव है कि अब वह स्वयं अपने कृत्य पर पछता रहा हो।

सीता—हम आर्यों से तो अनार्य ही अच्छे हैं। वे नारी का आदर करना जो जानते हैं।

राम—नारी की पूजा जहाँ होगी वहीं स्वर्ग की सुख-समृद्धि

साथ विश्वासघात किया.....?

मल्लिका—(सिसकते हुये) नहीं महाराज! मैंने ऐसा कोई दुष्कर्म नहीं किया। मेरा अपराध इतना ही था कि मैं कल रात को अपनी सहेली के निवास-स्थान पर रह गई। कल सन्ध्या समय उनके यहाँ कथा थी। कथा की समाप्ति पर कीर्तन हुआ। भोजन करते करते अर्ध-रात्रि हो गई। सहेली ने वहीं रहने का अनुरोध किया। उनके अनुरोध को मैं न टाल सकी महाराज! और.....और जब आज प्रातः समय घर गई तो पति ने.....पति ने मुझे ठोकर मारकर घर से निकाल दिया।

[मल्लिका फूट फूट कर रोने लगती है। सीता उसे धीरज बँधाती हैं।]

राम—यह तो कोई अपराध नहीं था। इसके लिये इतना भयंकर दंड! क्या वह यह भूल गया कि उसने जीवन भर निबाहने का तुम्हें वचन दिया है?

सीता—पुरुष के वचन का क्या मूल्य? आर्य, कब तक पुरुष नारी को अपने चरणों की दासी समझता रहेगा, कब तक वह उसे अपने अन्यायों, अत्याचारों और प्रतारणाओं का लक्ष्य बनाता रहेगा?

राम—पुरुष और नारी समाज के दो स्तम्भ हैं। समाज का प्रासाद दोनों पर टिका है। दोनों को समान महत्व देना चाहिये। नारी को हीन समझना भूल है।

सीता—इस भूल का प्रतिकार होना ही चाहिये। मल्लिका निर्दोष है और निर्दोष को दंड मिलना घोर अन्याय है।

राम—राम-राज्य में अन्याय नहीं होगा। विश्वास रक्खो! तुम इन्हें अपने कक्ष में ले जाओ। स्वच्छ वस्त्र और अच्छा भोजन दो। मैं अभी मल्लक के यहाँ दन्डनायक को भेजता हूँ।

[दोनों सामने वाले द्वार की ओर बढ़ती हैं।]

राम—ठहरो भद्रे। आपने अपने गृह का पता तो बताया ही नहीं!

मल्लिका—सरयू के किनारे ही रजकों का मोहाल है महाराज! वहाँ किसी से भी पूछने पर मल्लक के गृह का पता लग जायगा।

राम—ठीक है। मैं अभी दन्डनायक को भेजने की व्यवस्था करता हूँ।

[सीता और मल्लिका चली जाती हैं। राम ताली बजाते हैं। प्रतिहारिणी आकर खड़ी हो जाती है।]

राम—दंडनायक को आदेश दो कि सरयू-तट पर बसे रजकों के मोहाल में जाकर मल्लक रजक को तुरन्त पकड़ लायें।

[प्रतिहारिणी का प्रस्थान। राम व्यग्र भाव से कक्ष में टहलते रहते हैं। उनकी मुद्रा गंभीर है।]

राम—(मन्द स्वर में) अकारण ही पत्नी का परित्याग! सुख-दुख की संगिनी का गृह से निष्कासन!! इससे अधिक अधम कर्म और क्या हो सकता है? दंड……उस दुष्ट मल्लक को दंड अवश्य मिलेगा और वह दंड इतना कठोर होगा—इतना कठोर होगा कि भावी सन्तान उससे शिक्षा लेगी!

[सामने के द्वार का पर्दा हटाकर सीता का प्रवेश।]

सीता—क्या सोच रहे हैं?

राम—कुछ नहीं! मल्लिका देवी कहाँ हैं?

सीता—स्नान कर रही हैं। आपने दंडनायक को भेजा?

राम—हाँ! मैं नीच मल्लक को कठिन से कठिन दंड दूँगा।

सीता—देना ही चाहिये! नारी के साथ अभद्रता, उसका अपमान, निरादर किसी भी समाज में क्षम्य नहीं है।

राम—होना भी नहीं चाहिये। नारी शक्ति का स्वरूप है। उसका निरादर नहीं, आदर करना चाहिये।

सीता—मेरी समझ में नहीं आता कि उसका इतना साहस कैसे हुआ?

राम—क्रोध मनुष्य को अन्धा कर देता है सीते! सम्भव है कि अब वह स्वयं अपने कृत्य पर पछता रहा हो।

सीता—हम आर्यों से तो अनार्य ही अच्छे हैं। वे नारी का आदर करना तो जानते हैं।

राम—नारी की पूजा जहाँ होगी वहीं स्वर्ग की सुख-समृद्धि

वास न करेगी।

सीता—(हँसकर) कहने और करने में बहुत अन्तर है आर्य! हमने आर्य होकर एक अनार्य नारी के नाक-कान काट लिये और एक अनार्य ने एक आर्य नारी को अपने वश में पाकर भी उसके साथ अभद्र व्यवहार नहीं किया।

राम—सीते! उस अप्रिय प्रसंग को छेड़कर अतीत की वियोगपूर्ण घड़ियों की दुखद स्मृति न जगाओ!

सीता—(हँसकर) मेरा वियोग क्या वास्तव में कष्टप्रद था?

राम—यह अपने हृदय से पूछो सीते!

सीता—(उसी प्रकार हँसकर) चाटुकारी कोई आप से सीखे।

राम—यह चाटुकारी नहीं, वास्तविकता है। वियोग की उन घड़ियों के स्मरण मात्र से हृदय काँप जाता है।

सीता—सच? मेरा विचार कुछ दिनों बाद मिथिला जाने का है। तब आप यहाँ अयोध्या में कैसे रहेंगे?

राम—मिथिला? नहीं सीते! अब तुम कहीं नहीं जाओगी। हम दोनों जहाँ रहेंगे, साथ रहेंगे! तुम्हारे बिना·····नहीं सीते, नहीं! वियोग की अग्नि का ताप अब मैं सहन नहीं कर सकता।

सीता—(गंभीर स्वर में) मेरा संसार इन्हीं चरणों में है। आशीर्वाद दीजिये कि आजीवन इनकी सेवा के पुन्य से वंचित न रहूँ।

[सीता राम के चरणों पर झुकना चाहती हैं। राम उन्हें उठा लेते हैं। बाहर से कोलाहल का शब्द आता है।]

राम—कदाचित दंडनायक मल्लक को ले आये!

सीता—मैं जाती हूँ। मल्लिका बहन के साथ अन्याय न होने पाये।

[सीता अन्दर जाती हैं। बाहर से दण्डनायक आता है। उसके पीछे मल्लक है। वह अधेड़ अवस्था का है। वस्त्र फटे हैं और कहीं कहीं पर रक्त लगा है। मुँह पर सूजन है। वह राम के चरणों पर गिर जाता है।]

मल्लक—महाराज! मैं कौशल का नागरिक हूँ। मेरे अधिकारों का

अपहरण किया गया है ! सैनिकों ने मेरी यह दुर्दशा की है और····· और मैं यहाँ बलपूर्वक लाया गया हूँ ।

राम—(गंभीर स्वर में) उठो मल्लक ! तुम यहाँ मेरी आज्ञा से लाये गये हो ।

[राम अपने स्थान पर बैठ जाते हैं । मल्लक हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है । दंडनायक शिर नीचा किये खड़ा है ।]

मल्लक—आप की आज्ञा से ? महाराज·····!

राम—(बीच में ही) पर मैंने यह आज्ञा नहीं दी थी कि तुम्हें मारा जाये । दंडनायक ! नागरिक मल्लक के साथ अभद्र व्यवहार क्यों किया गया ?

दंडनायक—(मन्द स्वर में) महाराज·····!

राम—बोलते क्यों नहीं ?

दंडनायक—महाराज ! इसी से पूछिये इसने क्या कहा था !

राम—मल्लक ! तुम्हें ज्ञात है कि तुम यहाँ क्यों लाये गये हो ?

मल्लक—नहीं महाराज ! क्या है मेरा अपराध ?

राम—अपराध के बिना दंड देना अधर्म है, अन्याय है इसे तो तुम भी मानते होगे ?

मल्लक—जी महाराज !

राम—(कठोर स्वर में) फिर निरपराधिनी मल्लिका को तुमने दंड क्यों दिया ? क्यों निष्कासित किया उसे गृह से ?

मल्लक—महाराज वह व्यभिचारिणी है । रात भर दूसरे के घर में रही । अब मैं उसे कैसे घर में रख सकता हूँ ?

राम—(क्रुद्ध स्वर में) अपनी सहेली के घर में रहने से वह व्यभिचारिणी हो गई । मल्लक ! मल्लिका गंगाजल के समान पवित्र है । अपनी भूल का प्रायश्चित करो और उसे आदर से घर ले जाओ, यही मेरी आज्ञा है !

मल्लक—(सर झुकाकर विनीत स्वर में) महाराज ! आप की आज्ञा हो तो अपने ही हाथों से इस शिर को काटकर आप के चरणों पर रख दूँ परन्तु·····परन्तु यह मुझसे न हो सकेगा ।

राम—(तीव्र और कठोर स्वर में) मल्लक !

मल्लक—महाराज ! चाहे प्राण चले जायें पर मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता !

राम—मल्लिका को घर में रखने से धर्म चला जायेगा तुम्हारा ?

दंडनायक—महाराज ! इसी सम्बन्ध में इस धूर्त ने ऐसे शब्द कहे थे जिनका सुनना भी पाप है !

राम—क्या कहा था मल्लक ?

मल्लक—(सर झुकाकर) आवेश में न जाने क्या क्या बक गया था महाराज ! क्षमा चाहता हूँ ।

राम—क्या कहा था तुमने ?

[मल्लक मौन रहता है । राम दंडनायक की ओर देखते हैं ।]

दंडनायक—इसने माता सीता पर आक्षेप किया था महाराज !

राम—(खड़े होकर) दंडनायक !

दंडनायक—(सर नीचा करके विनम्र स्वर में) महाराज ! इस दुष्ट ने कहा था कि महाराज पर-पुरुष के घर में रही हुई स्त्री को रख सकते हैं, मैं नहीं रख सकता ।

राम—(तीव्र स्वर में) दंडनायक ! इसे बाहर ले जाओ !

मल्लक—महाराज, क्षमा ! क्षमा !!

राम—ले जाओ इसे !

[दंडनायक मल्लक को ले जाता है । राम व्याकुल होकर कक्ष में टहलते हैं । उनके मस्तक पर स्वेद-बिन्दु झलक रहे हैं । बाहर से राज-गुरु वशिष्ट आते हैं ।]

राम—प्रणाम गुरुवर !

वशिष्ठ—प्रसन्न रहो वत्स ! क्यों, व्यग्र क्यों हो ?

[वशिष्ठ चौकी पर बैठ जाते हैं । राम भी अपना स्थान ग्रहण करते हैं ।]

राम—(आर्द्र स्वर में) गुरुवर, मुझे मार्ग दिखाइये ! मैं गहन अंधकार में हूँ ।

वशिष्ठ—(हँसकर) जिस दिन सूर्य को अंधकार घेर लेगा राम, उस

देन प्रलय हो जायेगी।

राम—आज सूर्य को बादलों ने आच्छादित कर दिया है गुरुवर! कर्त्तव्य और भावना की भयंकर आँधी में मुझे कुछ दिखाई नहीं देता।

वशिष्ठ—क्या बात है राम?

राम—अयोध्या की प्रजा अग्नि-परीक्षा के पश्चात् भी सीता के चरित्र पर सन्देह करती है।

वशिष्ठ—शिव! शिव!! शिव!!! यह क्या कह रहे हो?

राम—एक रजक ने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया है—केवल इसलिये कि वह रात भर अपनी सखी के गृह में सोई थी। उसी रजक के शब्दों में मैं सीता को अपनाकर भयंकर अधर्म कर रहा हूँ, मुझे भी पत्नी-परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह तो अनेक रात रावण के यहाँ रही है।

वशिष्ठ—उस शूद्र का इतना साहस? राम, एक शूद्र के कथन से विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। हम सभी जानते हैं कि सीता गङ्गाजल के समान पवित्र है।

राम—यह तो ठीक है गुरुदेव, किन्तु लोकमत की अवहेलना उचित नहीं। राजा का कर्त्तव्य...!

वशिष्ठ—(बीच में ही) एक शूद्र का मत लोकमत हो गया?

राम—शूद्र भी नागरिक है। उन्हें भी अपना मत प्रकट करने का अधिकार है। लोकमत के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह उच्च वर्णों का मत अथवा बहुमत हो। जो बात मल्लक के हृदय में है, कदाचित वैसी ही धारणा सभी की हो पर भय के कारण कह न सकते हों। मल्लक ने आवेश में आकर अपना विचार व्यक्त कर दिया। मैं उसी को लोकमत समझ रहा हूँ। अब आप मुझे आदेश दें कि ऐसी स्थिति में एक राजा का क्या कर्त्तव्य है।

वशिष्ठ—वत्स राम! राजा का कर्म प्रजा-रंजन है। राजा प्रजा का पिता है। यदि एक मूढ़ रजक के मत को ही तुम लोकमत समझ बैठे हो तब तो मार्ग स्पष्ट है।

राम—यह तो मैं भी देख रहा हूँ गुरुदेव! आप का आदेश और

राम—(तीव्र और कठोर स्वर में) मल्लक !

मल्लक—महाराज ! चाहे प्राण चले जायें पर मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता !

राम—मल्लिका को घर में रखने से धर्म चला जायेगा तुम्हारा ?

दंडनायक—महाराज ! इसी सम्बन्ध में इस धूर्त ने ऐसे शब्द कहे थे जिनका सुनना भी पाप है !

राम—क्या कहा था मल्लक ?

मल्लक—(सर झुकाकर) आवेश में न जाने क्या क्या बक गया था महाराज ! क्षमा चाहता हूँ ।

राम—क्या कहा था तुमने ?

[मल्लक मौन रहता है । राम दंडनायक की ओर देखते हैं ।]

दंडनायक—इसने माता सीता पर आक्षेप किया था महाराज !

राम—(खड़े होकर) दंडनायक !

दंडनायक—(सर नीचा करके विनम्र स्वर में) महाराज ! इस दुष्ट ने कहा था कि महाराज पर-पुरुष के घर में रही हुई स्त्री को रख सकते हैं, मैं नहीं रख सकता ।

राम—(तीव्र स्वर में) दंडनायक ! इसे बाहर ले जाओ !

मल्लक—महाराज, क्षमा ! क्षमा !!

राम—ले जाओ इसे !

[दंडनायक मल्लक को ले जाता है । राम व्याकुल होकर कक्ष में टहलते हैं । उनके मस्तक पर स्वेद-बिन्दु झलक रहे हैं । बाहर से राज-गुरु वशिष्ट आते हैं ।]

राम—प्रणाम गुरुवर !

वशिष्ठ—प्रसन्न रहो वत्स ! क्यों, व्यग्र क्यों हो ?

[वशिष्ठ चौकी पर बैठ जाते हैं । राम भी अपना स्थान ग्रहण करते हैं ।]

राम—(आर्द्र स्वर में) गुरुवर, मुझे मार्ग दिखाइये ! मैं गहन अंधकार में हूँ ।

वशिष्ठ—(हँसकर) जिस दिन सूर्य को अंधकार घेर लेगा राम, उस

दिन प्रलय हो जायेगी।

राम—आज सूर्य को बादलों ने आच्छादित कर दिया है गुरुवर! कर्त्तव्य और भावना की भयंकर आँधी में मुझे कुछ दिखाई नहीं देता।

वशिष्ठ—क्या बात है राम ?

राम—अयोध्या की प्रजा अग्नि-परीक्षा के पश्चात् भी सीता के चरित्र पर सन्देह करती है।

वशिष्ठ—शिव ! शिव !! शिव !!! यह क्या कह रहे हो ?

राम—एक रजक ने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया है—केवल इसलिये कि वह रात भर अपनी सखी के गृह में सोई थी। उसी रजक के शब्दों में मैं सीता को अपनाकर भयंकर अधर्म कर रहा हूँ, मुझे भी पत्नी-परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह तो अनेक रात रावण के यहाँ रही है।

वशिष्ठ—उस शूद्र का इतना साहस ? राम, एक शूद्र के कथन से विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। हम सभी जानते हैं कि सीता गङ्गाजल के समान पवित्र है।

राम—यह तो ठीक है गुरुदेव, किन्तु लोकमत की अवहेलना उचित नहीं। राजा का कर्त्तव्य... !

वशिष्ठ—(बीच में ही) एक शूद्र का मत लोकमत हो गया ?

राम—शूद्र भी नागरिक हैं। उन्हें भी अपना मत प्रकट करने का अधिकार है। लोकमत के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह उच्च वर्णों का मत अथवा बहुमत हो। जो बात मल्लक के हृदय में है, कदाचित वैसी ही धारणा सभी की हो पर भय के कारण कह न सकते हों। मल्लक ने आवेश में आकर अपना विचार व्यक्त कर दिया। मैं उसी को लोकमत समझ रहा हूँ। अब आप मुझे आदेश दें कि ऐसी स्थिति में एक राजा का क्या कर्त्तव्य है।

वशिष्ठ—वत्स राम ! राजा का कर्म प्रजा-रंजन है। राजा प्रजा का पिता है। यदि एक मूढ़ रजक के मत को ही तुम लोकमत समझ बैठे हो तब तो मार्ग स्पष्ट है।

राम—यह तो मैं भी देख रहा हूँ गुरुदेव ! आप का आदेश और

आशीर्वाद चाहिये। प्रेम मुझे कर्त्तव्य के पथ से नहीं डिगा सकता।

वशिष्ठ—भावना से कर्त्तव्य महान है। सच्चे राम-राज्य की स्थापना के लिए सीता का परित्याग करो।

राम—ऐसा ही होगा गुरुदेव!

[वशिष्ठ उठकर मन्द गति से बाहर चले जाते हैं। राम भी उठकर टहलने लगते हैं। कर्त्तव्य और प्रेम के संघर्ष में कर्त्तव्य की विजय होने के कारण अब उनका मुख-मंडल शान्त है। मुद्रा अब भी गंभीर है पर उस गंभीरता के अन्दर भी व्यथा के भयंकर प्रभंजन के चिन्ह यदा-कदा अंकित हो जाते हैं। टहलते हुये वे खिड़की के समीप जाते हैं और कुछ देर तक बाहर की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते रहते हैं। फिर आकर अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। बाहर से लक्ष्मण का प्रवेश। उनकी मुख-मुद्रा गंभीर है।]

लक्ष्मण—आर्य, यह मैं क्या सुन रहा हूँ? क्या गुरुदेव ने जो कुछ कहा वह सत्य है?

राम—(गंभीर स्वर में) हाँ, लक्ष्मण!

लक्ष्मण—यह तो घोर अन्याय है भैय्या!

राम—(कठोर स्वर में) भैय्या नहीं, राजा हूँ इस समय मैं। राजाज्ञा का विरोध राज-द्रोह की श्रेणी में आ जाता है लक्ष्मण!

लक्ष्मण—भूल हुई। अपराध क्षमा हो। आप राजा हैं तो माँ सीता भी रानी हैं। राजा प्रजा का पिता है तो रानी माँ है। माँ के साथ अत्याचार होते देखकर कौन पुत्र मौन रहेगा?

राम—लक्ष्मण! मैं जो कुछ कर रहा हूँ पुत्र की ही इच्छानुसार कर रहा हूँ। पुत्र ने माता के चरित्र पर सन्देह प्रकट किया है। ऐसी स्थिति में पत्नी के परित्याग के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता है पिता के लिए।

लक्ष्मण—अपराध क्षमा हो आर्य! जो सन्तान अपनी माता के चरित्र पर सन्देह करे वह सन्तान नहीं बैरी है। माता को अकारण दंड क्यों दिया जा रहा है? उस पुत्र को ही निष्कासन का दंड क्यों नहीं दिया जाता?

राम--राजा के निर्णय को अशुद्ध समझना उचित नहीं लक्ष्मण ! मेरा निश्चय अटल है ।

[अन्दर से कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी तथा बाहर से भरत और शत्रुघ्न का प्रवेश । सभी दुखी और व्याकुल हैं ।]

कौशल्या—अपने निश्चय को बदलना होगा राम !

राम—यह असम्भव है माँ ! राज-कार्य में हस्ताक्षेप करना उचित नहीं । आप लोग जायें ।

कैकेयी—यह राज-कार्य है ? गर्भवती पत्नी को गृह से निकालना राज-कार्य है ? निरपराध, भोली-भाली, गंगा सी पवित्र सीता का परित्याग करना राज-कार्य है ? तुम पागल तो नहीं हो गये हो वत्स ! (गला भर आता है) । मुझ मूर्खा और स्वार्थिन के कारण उसे क्या कम दुख मिले हैं जो अब तुम कमी पूरी कर रहे हो ? पिछले कष्टों के चिन्ह भी तो अभी नहीं मिट पाये हैं बिचारी के मुख से और तुम·····तुम फिरउ से यंत्रणा देने को सोच रहे हो ?

राम—(आद्र स्वर में) माँ ! अपनी अवरुद्ध वाणी से मुझे दुर्बल न बनाओ ! आँसुओं की यह धारा मेरे मार्ग को कंटकित कर देगी । आप लोग जायें ।

सुमित्रा—बेटा·····!

राम—आप का बेटा राजा भी है माँ ! राजा के कर्त्तव्य कठोर होते हैं । जब काँटों का मुकुट पहना है तब उसे निबाहना भी पड़ेगा ।

भरत—भैय्या·····! माँ सीता·····!

राम—भरत ! मेरे प्यारे भरत ! जाओ ! मुझे कर्त्तव्य-पथ से विचलित करने की चेष्टा न करो । शत्रुघ्न, तुम भी जाओ भाई !

[सब जाते हैं । लक्ष्मण भी द्वार की ओर बढ़ते है ।]

राम—तुम ठहरो लक्ष्मण !

[लक्ष्मण समीप आकर खड़े हो जाते है ।]

राम—(आद्र स्वर में) लक्ष्मण, मुझसे रुष्ट हो क्या ?

लक्ष्मण—आर्य !

राम—सीता के वियोग में मेरी जो दशा हुई थी वह तुमसे छिपी

नहीं है। उसी शीतल अग्नि में अब फिर जलना पड़ेगा।

[राम की आखें भर आती हैं। लक्ष्मण 'आर्य' कहकर उनके चरणों पर गिर पड़ते हैं। राम उन्हें उठाकर हृदय से लगा लेते हैं। लक्ष्मण की आँखों से अविरल अश्रु-धारा बह रही है।]

राम--(लक्ष्मण के अश्रु पोंछते हुये) रोना कायरता है लक्ष्मण! सीता का परित्याग करके मैं अपने को कितना महान दंड दे रहा हूँ इसका अनुमान तुम्हीं लगा सकते हो। फिर भी राम के दुख-दर्द की राजा राम को क्या चिन्ता? लक्ष्मण, राजाज्ञा की पूर्ति का उत्तरदायित्व तुम पर है। तुम्हीं सीता को ले जाकर कहीं छोड़ आना!

लक्ष्मण--आर्य, मुझसे यह.....!

राम--यह मेरी आज्ञा है लक्ष्मण!

[अन्दर से सीता का प्रवेश।]

सीता--क्या न्याय किया मल्लिका बहन का? आप दोनों मौन क्यों हैं? भाई लक्ष्मण, आप की आँखों में अश्रु क्यों हैं?

लक्ष्मण--(रुद्ध कंठ से) आर्य राम ने आप का परित्याग कर दिया है माँ!

[लक्ष्मण विद्युत वेग से बाहर चले जाते हैं।]

सीता--(कम्पित स्वर में) आर्य! यह मैंने क्या सुना है?

राम--सत्य ही सुना है। पर-पुरुष के गृह में रही हुई पत्नी को मैं कैसे अपना सकता हूँ? मैं राजा हूँ न! राज-रानी को तो पवित्र होना चाहिये, निष्कलंक होना चाहिये।

सीता--आर्य? अपनी पवित्रता का प्रमाण तो मैं अग्नि-परीक्षा द्वारा दे चुकी हूँ। फिर यह प्रसंग कैसे उठा? समझ गई, मल्लक ने उठाया होगा! एक रजक के कहने मात्र से मुझे इन चरणों की सेवा से वंचित किया जा रहा है, मेरा परित्याग किया जा रहा है, मेरा स्वर्ग मुझसे छीना जा रहा है!

राम--(भीगे स्वर में) यह दंड तो राजा राम ने दिया है। राम तो तुम्हारे वियोग में तड़पता ही रहेगा।

सीता--राजा राम! आप राजा के कर्त्तव्यों को स्मरण रखते हैं

पर पति के उत्तरदायित्वों को भूल जाते हैं। यदि राजा के नाते प्रजा का आप पर अधिकार है तो पति के नाते मेरा भी है।

राम--इन वाक्य-शरों से मेरे हृदय को न बेधो!

सीता--मैं आप से यह विनती नहीं करूँगी कि आप अपने निर्णय पर पुनर्विचार करें। आप की आज्ञा शिरोधार्य है। उसी में मेरा मोक्ष है। पर···पर इतना अवश्य कहूँगी कि नारी-पुरुष में असमानता रखकर राम-राज्य की स्थापना नहीं हो सकती--नहीं हो सकती। नारी को इतना अबला क्यों समझा जाता है कि वह पर-पुरुष से अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकती? आप ही ने तो कहा था कि नारी शक्ति का अवतार है, नारी और पुरुष समाज के दो स्तम्भ हैं। कहाँ गया अब वह आदर्श, कहाँ गई अब वह विचार-धारा?

राम--(आर्द्र स्वर में) सीते! प्रजा-रंजन ही मेरा धर्म है। किसी भी दशा में लोकमत की अवहेलना नहीं की जा सकती।

सीता--मैं यह नहीं कहूँगी कि आप पत्नी के लिए राज्य त्याग दें। पत्नी की क्या, वह तो चरणों की दासी है। राज्य रहेगा तो दासियों का क्या अभाव? पुरुष की दृष्टि में नारी का मूल्य ही क्या?

राम--(आकुलस्वर में) सीते! मैं राजा हूँ। राजा पुरुष नहीं···!

सीता--(बीच में ही) देवता होता है यही कहना चाहते हैं न आप? देवता स्वर्ग में रहते हैं और स्वर्ग वहीं है जहाँ नारी की पूजा होती है। जहाँ नारी का निरादर हो, अपमान हो, उस पर अनाचार हो, अत्याचार हों वहाँ नरक है। मैं इस नरक में अब नहीं रहना चाहती। अभी-इसी क्षण में जाने की तैयारी करती हूँ। पृथ्वी बहुत बड़ी है। अब लौट कर अयोध्या नहीं आऊँगी, पर जाने से पहले इतना और कहूँगी कि सच्चे राम-राज्य की स्थापना तभी हो सकेगी जब नारी को समाज में समान स्थान प्राप्त होगा।

राम--सीते! तुम्हारे वियोग·····!

सीता--(बीच में ही) आपके वियोग में ही मैं संयोग का सुख पालूँगी। यदि मेरे स्पर्श से आप अपावन होते हों तो दूर से ही चरण रज लेने की आज्ञा दीजिये।

[सीता झुककर दूर से ही चरण-रज लेती हैं। राम आगे बढ़कर उन्हें उठाना चाहते है पर फिर रुक जाते हैं। सीता उठकर साश्रु नयनों से राम की ओर देखती हैं और फिर तीव्र गति से अन्दर चली जाती हैं। राम भीगे नयनों से उधर देखते रहते हैं।]

राम--(एक निश्वास छोड़कर भीगे स्वर में) काश ! मेरे हृदय की व्यथा तुम जान पातीं ! काश !! तुम्हारे लिए मैं राज्य को त्यागने की स्थिति में होता !

[राम शिथिल होकर अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। दोनों हाथों से वे अपना मस्तक दबाते हैं। लाख चेष्टा करने पर भी वे सिसकी नहीं रोक पाते। एक दबी सी सिसकी निकल ही जाती है और दृग-कोरों से दो बूँदे निकल कर कपोलों पर आ जाती हैं। धीरे धीरे यवनिका गिरती है।]

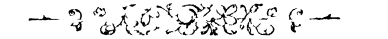

साम्राज्य और सोहाग

पिता की साम्राज्य-लिप्सा पर पुत्री ने अपने
सोहाग की बलि दे दी।
क्यों? केवल इसलिये कि वह असंख्य ललनाओं के
सोहाग को युद्ध की अग्नि में
भस्म होते नहीं देख सकी थी।

पात्र तथा स्थान

प्रभावतीः—चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री ।

रमाः—वीरसेन की पुत्री और प्रभावती की सहेली ।

चन्द्रगुप्त द्वितीयः—गुप्त-सम्राट; चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ।

कुबेरनागाः—चन्द्रगुप्त की पत्नी ।

वीरसेनः—चन्द्रगुप्त का सन्धि-विग्रहीक ।

महिम भट्टः—राज-गुरु तथा प्रसिद्ध ज्योतिषी ।

स्थानः—पाटलिपुत्र में राज-प्रासाद का एक कक्ष ।

समयः—प्रातःकाल ।

[कक्ष आयताकार है। सामने की भीति पर चन्द्रगुप्त प्रथम तथा समुद्रगुप्त के विशाल भीतिचित्र बने है। दाहिनी ओर एक द्वार है जो प्रासाद की ओर खुलता है। बाईं ओर की खिड़की खुली है। द्वार और खिड़की पर सुनहले पर्दे पड़े है। खिड़की से होकर शीतल पवन के झकोरे आ रहे है। फर्श पर कीमती ग़लीचा बिछा है। सामने की भीति से सटी हुई एक बड़ी चौकी है जिस पर रेशमी गद्दा बिछा है। चौकी के पाये चादी के है और उन पर सोने का काम है। उसके समीप ही दो छोटी छोटी चौकियाँ है जिन पर ज़री के काम की गद्दियाँ बिछी है। खिड़की के समीप खड़ी प्रभावती सोन की स्वर्णिम धारा देख रही है। वह युवा है, सुन्दर है। रमा का प्रवेश। वह भी युवा और सुन्दर है।]

रमा—(प्रभावती को पीछे से गुदगुदा कर) क्या सोच रही हो ?

प्रभावती—(चौककर) कुछ नहीं रमा। प्रकृति के मनोरम सौन्दर्य को देख रही थी।

रमा—उसकी क्या आवश्यकता है ? दर्पण देख लिया करो।

प्रभावती—(न समझने के ढंग से) उससे क्या होगा ?

रमा—होगा क्या ? तुम्हारे सौन्दर्य को ही चुराकर तो प्रकृति सुन्दर हो गई है। अपना रूप देखकर ही मग्न हो लिया करो !

प्रभावती—(लजा कर) तुम्हें तो सदैव परिहास ही सूझता है। यदि मैं सम्राट होती तो तुम्हें अपना मंत्री बनाती।

रमा—तुम्हारे पिता ने भी तो मेरे पिता को मंत्री बनाया है प्रभा !

प्रभावती—पिता जी ने उन्हे सन्धि-विग्रहीक बनाया है। उनका

कार्य सन्धि और युद्ध कराना है; निर्दोषों का रक्तपात कराना है। पर मैं तो तुम्हें परिहास-मंत्री बनाती। तुम्हारा कार्य रुलाना नहीं, हँसाना होता; संहार नहीं, निर्माण होता।

रमा—युद्ध और शान्ति के लिए तुम्हें कब से चिन्ता होने लगी?

[प्रभावती निःश्वास छोड़कर मंदगति से जाकर बड़ी चौकी पर बैठ जाती है। रमा छोटी चौकी पर बैठ जाती है।]

प्रभावती—साम्राज्य की लालसा मनुष्य को पागल कर देती है रमा! मनुष्यों की हड्डियों पर बना साम्राज्य किस काम का?

रमा—साम्राज्य खंग की धार से बनता है प्रभा! जिसमें अपने साम्राज्य को बढ़ाने की तीव्र लालसा नहीं वह न तो सम्राट है और न उसका साम्राज्य रह ही सकता है।

प्रभावती—खंग से लोगों के तन को जीता जा सकता है, मन को नहीं। शस्त्र-बल से बना साम्राज्य किसी भी क्षण विद्रोह की भयंकर ज्वाला में भस्म हो सकता है।

रमा—अच्छा यही सही। पर यह तो बताओ कि आज अचानक इस प्रसंग को उठाने का क्या कारण है।

प्रभावती—(गंभीर वाणी में) पिताजी को बना बनाया साम्राज्य मिला है। जितना है, वही यथेष्ट है। पर मैं देखती हूँ कि वे दिन रात इसी चिन्ता में रहते हैं कि किस प्रकार साम्राज्य का विस्तार किया जाये। उनकी महत्वाकांक्षा ने उन्हें सम्राट भले ही बना दिया हो पर मनुष्य नहीं। न तो उनके पास माता जी के लिए समय है और न मेरे लिए ही अवकाश। रमा, तुम्हीं बताओ, यह कहाँ का न्याय है? क्या सम्राट मनुष्य नहीं होता? क्या उसका पत्नी, पुत्र, और पुत्री के प्रति कोई भी उत्तरदायित्व नहीं है? क्या हम लोगों का उस पर कोई अधिकार नहीं?

[आवेश से उसका मुख लाल हो जाता है। रमा मौन रहती है।]

प्रभावती—(संयत होकर) अशोक भी तो सम्राट थे। एक दिन उन्हें अपने कर्मों पर प्रायश्चित करना ही पड़ा। पर पिता जी को कौन समझाये कि सच्ची विजय शरीर की नहीं हृदय की होती है।

रमा—(हँसकर) अब कही है मन की बात। हृदय-प्रदेश पर क्या

किसी ने अधिकार कर लिया है ?

प्रभावती—यह परिहास का समय नहीं है रमा। पिता जी की युद्ध-लिप्सा बढ़ती ही जा रही है और उस अग्नि में घृत का कार्य कर रही है तुम्हारे पिता जी कि कुटिल योजनायें।

रमा—मेरे पिता को इसी लिए वेतन मिलता है प्रभा! वे जो कुछ करते हैं, साम्राज्य के हित के लिए, सम्राट की भलाई के लिये।

प्रभावती—ठीक है। मैं स्वयं पिता जी से विनती करूँगी कि भविष्य में युद्ध न करें। जितना साम्राज्य है उसी की· · · ·

[नेपथ्य से पदचाप आती है। प्रभावती और रमा चौंक कर खड़ी हो जाती हैं। कक्ष में सम्राट चन्द्रगुप्त का प्रवेश। उनके साथ सन्धि-विग्रहीक वीरसेन भी है। सम्राट विचारमग्न हैं।]

प्रभावती—प्रणाम पिता जी! मैं आपका कुछ समय.. .. . .।

चन्द्रगुप्त—फिर कभी। इस समय तो मैं एक गंभीर समस्या में उलझा हुआ हूँ।

[प्रभावती और रमा बाहर चली जाती हैं। सम्राट चिन्तित मुद्रा में टहलते रहते हैं।]

वीरसेन—(विनम्र स्वर में) इस प्रकार चिन्ता में लीन सम्राट ?

चन्द्रगुप्त—(चौकी पर बैठते हुये) तुम कहते हो कि चिन्ता न करूँ! गुजरात तथा सौराष्ट्र के शक क्षत्रप उद्दंड होते जा रहे हैं। आये दिन वे हमारे प्रदेश में घुसकर उत्पात करते हैं। और तुम · · · ·।

वीरसेन—(बीच में ही) मैं जानता हूँ सम्राट! किन्तु इसके लिये चिन्ता की क्या आवश्यकता है? उन्हें दबाना तो अत्यन्त सरल है।

चन्द्रगुप्त—(गंभीर स्वर में) तुम भूलते हो वीरसेन! उन्हें पराजित करना लोहे के चने चबाना है। उनका युद्ध-कौशल, उनका संगठन, साहस·····! क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।

वीरसेन—आप चिन्ता न करें सम्राट! मैंने उपाय खोज लिया है। जिस स्थिति में हम आज हैं उसमें तो उन्हें पराजित करना कठिन पहेली है। इस समय तो हम उनसे युद्ध करने का विचार भीनहीं कर

सकते। किन्तु यदि.....।

चन्द्रगुप्त—(व्यग्रता से) कहो, रुक क्यों गये ?

वीरसेन—किन्तु यदि बरार के वाकाटकों की सहायता हमें प्राप्त हो जाये तो हम गुजरात और सौराष्ट्र के क्षत्रपों को ही क्या समस्त आर्यावर्त को साम्राज्य में मिला सकेंगे।

चन्द्रगुप्त—(कुछ क्षण सोचकर) कहते तो ठीक हो वीरसेन, पर वाकाटक क्यों हमारी सहायता करने लगे। वे स्वतन्त्र शासक हैं। उनसे सहायता प्राप्त करने का एक ही उपाय है—युद्ध !

वीरसेन—युद्ध ? नहीं सम्राट ! उन्हें तो नीति से जीतना होगा। यदि अपराध क्षमा हो तो कुछ निवेदन करूँ !

चन्द्रगुप्त—कहो, निःसंकोच कहो वीरसेन !

वीरसेन—बरार के वाकाटकों की शक्ति तो आप जानते ही हैं। हमें जिस प्रकार भी हो उन्हें अपना मित्र बनाना है। स्वर्गीय पृथ्वीसेन की मृत्यु के उपरान्त उनके प्रतापी पुत्र रुद्रसेन द्वितीय ने अपनी शक्ति को और भी अधिक बढ़ा लिया है। यदि रुद्रसेन के साथ.....!

चन्द्रगुप्त—(व्यग्र स्वर में) यदि रुद्रसेन के साथ.....?

वीरसेन—(गम्भीर स्वर में) अपनी राजकुमारी प्रभावती का विवाह हो जाय तो सब समस्यायें स्वतः हल हो जायेंगी।

चन्द्रगुप्त—प्रभा का विवाह रुद्रसेन के साथ..! प्रभा-रुद्र, रुद्र-प्रभा ! (प्रसन्न होकर) वीरसेन ! बहुत सुन्दर उपाय है। आश्चर्य है कि मेरा ध्यान अभी तक इस ओर क्यों नहीं गया.....?

वीरसेन—(विनीत स्वर में) आपने कभी इधर ध्यान ही नहीं दिया सम्राट। रुद्रसेन को मैं जानता हूं। उसका जन्म-पत्र भी मैंने मँगवा लिया है। वह इस सम्बन्ध के लिये प्रस्तुत भी है। गुप्त-वंश की कन्या पाकर वाकाटक अपने को कृतार्थ समझेंगे। बस आपकी स्वीकृति..!

चन्द्रगुप्त—(चौकी से उठकर टहलते हुये) मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? मैं साधन में नहीं, साध्य में विश्वास करता हूं वीरसेन !

वीरसेन—(उठकर अपने वस्त्रों से जन्म-पत्र निकालकर सम्राट को देता हुआ) यह है जन्म-पत्र सम्राट ! मेरे विचार से जन्म-पत्र न मिलाना ही

उचित है क्योंकि यदि ग्रह न मिले तो.....!

चन्द्रगुप्त—(बीच में ही दृढ़ स्वर में) तुम चिन्ता न करो वीरसेन! चाहे ग्रह मिले या न मिलें, यह विवाह अवश्य—अवश्य होगा। मैं अभी राजगुरु को बुलवाता हूं।

वीरसेन—मैं उन्हें अभी भेजता हूं सम्राट! हाँ क्या मैं किसी विश्वस्त चर को रुद्रसेन के पास अभी भेज दूँ?

चन्द्रगुप्त—अवश्य वीरसेन। शुभ कार्य में विलम्ब कैसा?

[वीरसेन झुककर अभिवादन करता है और फिर चला जाता है।]

चन्द्रगुप्त—(टहलते हुये) रुद्र और प्रभा! प्रभा और रुद्र!

[कुबेर नागा का प्रवेश। वह सुन्दर है।]

चन्द्रगुप्त—आओ प्रिये! मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था।

कुबेरनागा—(मुस्कराकर) मेरे अहोभाग्य सम्राट!

चन्द्रगुप्त—(हंसकर) व्यंग कर रही हो? कोई बात नहीं। आओ बैठो। मुझे तुम से आवश्यक परामर्श करना है।

[दोनों बड़ी चौकी पर बैठ जाते हैं।]

कुबेरनागा—क्या आज मंत्रियों का अकाल पड़ गया है सम्राट?

चन्द्रगुप्त—(हँसकर) बहुत रुष्ट हो मुझसे? इन दिनों मैं अधिक व्यस्त भी रहा। कुछ दिनों की और बात है। हाँ, प्रभा तो अब विवाह योग्य हो गई है।

कुबेरनागा—मुझे आश्चर्य है कि सम्राट को यह जानने का अवकाश मिल गया।

चन्द्रगुप्त—मैं सैनिक हूं। सैनिक अस्त्र-शस्त्र का प्रहार सह सकता है, पर व्यंग-बाणों का नहीं। मैंने प्रभा का विवाह बराड़ के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ करने का निश्चय किया है।

कुबेरनागा—गुप्त-वंश की कन्या वाकाटकों के घर जायेगी?

चन्द्रगुप्त—क्या हुआ? गुप्त-वंश में भी तो लिच्छवि, शक और कुषाणों की कन्यायें आई हैं!

कुबेरनागा—तो क्या उन विवाहों की भाँति इस विवाह का भी राजनैतिक महत्व है? क्या मेरी प्रभा को महत्वाकांक्षा की वेदी पर

चढ़ाया जा रहा है ? क्या·····क्या ·····?

चन्द्रगुप्त—(हँसकर) आवेश में न आओ ! रुद्रसेन योग्य है, प्रतापी है, युवा है, सुन्दर है । फिर इसमें क्या आपत्ति है ?

कुबेरनागा—आपने प्रभा से भी पूछा है ?

चन्द्रगुप्त—उसकी क्या आवश्यकता है ? मैं उसका पिता हूं । रुद्रसेन का जन्म पत्र यह है । मैंने राज-गुरु को बुलवाया है ।

कुबेरनागा—आप पुरुष हैं इसलिये नारी के हृदय की गति नहीं जान सकते । प्रभा से पूछ लेना ही उचित है ।

चन्द्रगुप्त—उससे पूछना व्यर्थ है । मेरा निश्चय अटल है ।

कुबेरनागा—तो मुझसे भी पूछने की क्या आवश्यकता थी ?

चन्द्रगुप्त—मैं तो तुम्हें केवल सूचना दे रहा हूं ।

[महिम भट्ट का प्रवेश । उनकी अवस्था लगभग ७० वर्ष है ।]

चन्द्रगुप्त—प्रणाम गुरुवर ! पधारिये !

[चन्द्रगुप्त और कुबेरनागा खड़े हो जाते हैं । महिम भट्ट बड़ी चौकी पर बैठ जाते हैं । वे दोनों छोटी चौकियों पर स्थान ग्रहण करते हैं ।]

महिम भट्ट—कैसे स्मरण किया चन्द्र ?

चन्द्रगुप्त—प्रभा का जन्म-पत्र तो आपने देखा ही है । इस जन्म-पत्र को भी देखिये ! इसके ग्रह कैसे हैं ?

[चन्द्रगुप्त जन्म-पत्र बढ़ा देते हैं । महिम भट्ट उसे ध्यान से देखते है । कक्ष में पूर्ण निस्तब्धता रहती है । जन्म-पत्र देखकर महिम भट्ट के मुख पर विषाद की छाया आ जाती है ।]

कुबेरनागा—कैसे ग्रह हैं गुरुवर ?

महिम भट्ट—(गम्भीर और मन्द स्वर में) किसका जन्म-पत्र है यह ?

कुबेरनागा—वरार के वाकाटक राजा रुद्रसेन का । सम्राट ने इनके साथ प्रभा का विवाह करने का निश्चय किया है ।

महिम भट्ट—इस निश्चय को बदलने में ही कल्याण है चन्द्र !

चन्द्रगुप्त—(उत्सुकता से) कारण ?

महिम भट्ट—इनके ग्रह प्रभा के ग्रहों के प्रतिकूल हैं । इस विवाह का परिणाम शुभ नहीं होगा चन्द्र !

चन्द्रगुप्त—(दृढ़ स्वर में) किन्तु यह विवाह तो अवश्य होगा। मैं रुद्रसेन के पास चर भेज चुका हूँ।

महिम भट्ट—अपने निश्चय पर पुनर्विचार करो चन्द्र!

चन्द्रगुप्त—नहीं। मैं अपना निश्चय नहीं बदल सकता। गुप्त-वंश और वाकाटकों का सम्बन्ध अवश्य होगा।

कुबेरनागा—(चिन्तित स्वर में महिम भट्ट से) आप इस सम्बन्ध के पक्ष में क्यों नहीं हैं? रुद्रसेन के ग्रह किसके लिए अशुभ हैं?

महिम भट्ट—प्रभा के लिए। रुद्रसेन की आयु अल्प है।

कुबेरनागा—यह क्या कह रहे हैं आप?

महिम भट्ट—सत्य कह रहा हूं। यदि यह विवाह हुआ तो प्रभा दस वर्ष से अधिक सौभाग्य का सुख नहीं भोग सकती।

कुबेरनागा—सुना आपने? अब क्या निश्चय है आपका सम्राट?

चन्द्रगुप्त—(कुछ क्षण मौन रह कर गंभीर स्वर में) रुद्रसेन और प्रभा का विवाह होना अत्यन्त आवश्यक है। (महिम भट्ट की ओर मुड़ कर) आप जन्म-पत्र फिर से देखिये कहीं भूल तो नहीं हो गई है?

महिम भट्ट—(कुछ क्रुद्ध स्वर में) मुझ पर अविश्वास कर रहे हो चन्द्र? महिम भट्ट ने आज तक कभी भूल नहीं की। मैं तुम्हें फिर सावधान किये देता हूँ। इस सम्बन्ध का विचार त्याग दो अन्यथा वही होगा जो मैं कह चुका हूँ।

[महिम भट्ट क्रुद्ध भाव से उठ कर जन्म-पत्र चन्द्रगुप्त के हाथ में दे देते हैं और फिर तीव्र गति से बाहर चले जाते है।]

कुबेरनागा—इस विचार को त्याग दीजिये सम्राट। महिम भट्ट की गणना कभी अशुद्ध नहीं हुई है।

चन्द्रगुप्त—(क्रुद्ध स्वर में) तुम चुप रहो। मैं जो चाहता हूँ उसे प्राप्त करके रहता हूं। मैं समस्त आर्यावर्त को अपनी पताका के नीचे देखना चाहता हूँ। इस ध्येय की प्राप्ति तभी हो सकती है जब वाकाटक हमारी सहायता करें।

कुबेरनागा—उनकी सहायता प्राप्त करने के और भी उपाय हैं।

चन्द्रगुप्त—वाकाटक स्वाभिमानी हैं। या तो मैं उनके सामने

सहायता के लिए झोली फैलाऊँ या फिर उन्हें युद्ध में पराजित करूँ तभी युद्ध में सहायता मिल सकती है। क्या तुम चाहती हो कि गुप्त-सम्राट उनके सामने घुटने टेक कर याचना करें ? क्या तुम्हारी यह इच्छा है कि उनसे युद्ध करके असंख्य निर्दोषों का रक्त पात किया जाये ?

कुबेरनागा—नहीं, मैं यह नहीं चाहती। मेरी तो यही इच्छा है कि जितना भी प्रदेश आपके अधिकार में है आप उसी पर सन्तोष करें।

चन्द्रगुप्त—सन्तोष का दूसरा नाम मृत्यु है। मैं जीवन चाहता हूँ।

कुबेरनागा—आपकी जो इच्छा हो, करें सम्राट ! पर यह कहाँ का न्याय है कि एक अबोध बच्ची का सौभाग्य ही दाँव पर लगा दें ?

चन्द्रगुप्त—राजनीति की इन गहन बातों को तुम क्या समझो ?

कुबेरनागा—मैं क्यों न समझूँगी ? उसी कुटिल राजनीति का मैं स्वयं लक्ष्य बन चुकी हूं। नाग वंश से मैत्री स्थापित करने के लिए ही आपने मुझ से विवाह किया। बहन ध्रुव देवी का उदाहरण·····!

चन्द्रगुप्त—(कठोर स्वर में) बस, कह चुकी जो कहना था। अब मौन रहो और मुझे सोचने दो।

कुबेरनागा—(गम्भीर और तीव्र स्वर में) आज तक मौन रही सम्राट, पर आज न रहूँगी ! मेरी आत्मा विद्रोह कर रही है। आपकी साम्राज्य-लिप्सा पर मैं अपनी प्रिय पुत्री की बलि नहीं होने दूँगी।

[चन्द्रगुप्त उठ कर टहलने लगते हैं। उनके मुँह पर झुँझलाहट के चिन्ह हैं। कुबेरनागा भी उन्हीं के पीछे पीछे टहलती है]

कुबेरनागा—पहले आप पति और पिता हैं, बाद में सम्राट ! एक पति का कर्तव्य आप भूले रहे, मैंने कुछ न कहा। आज मैं आपको पिता के धर्म से न गिरने दूँगी चाहे·····चाहे इसके लिये मुझे जीवन का ही दाँव क्यों न लगाना पड़े।

चन्द्रगुप्त—जिसकी व्यंग सहस्रों का रक्त पी चुकी हो उसके लिए एक जीवन का क्या मूल्य है ? जाओ, कक्ष में जाकर विश्राम करो।

कुबेरनागा—(विनीत स्वर में) सम्राट ! मैं अपनी पुत्री के सौभाग्य की याचना करती हूँ। अपने निश्चय को बदल दीजिये। यदि आप वैवाहिक सम्बन्ध से ही वाकाटकों की मैत्री प्राप्त करना चाहते हैं तो उनकी

कन्या ले आइये। आप रुद्रसेन की भगिनी से विवाह कर लीजिये। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है! पर·····पर दया करके प्रभा के सुख से न खेलिये; उसे जीवित मृत्यु का दण्ड न दीजिये, वैधव्य की ज्वाला में न झोंकिये।

[कुबेरनागा का कंठ अवरुद्ध हो जाता है और आँखों से अश्रु-धार बहने लगती है! चन्द्रगुप्त उसकी ओर देखते हैं फिर मुँह घुमाकर खिड़की के बाहर देखने लगते हैं।]

चन्द्रगुप्त--(मुख खिड़की की ओर किये हुये) यदि रुद्रसेन की कोई अविवाहिता भगिनी होती तो मैं तुम्हारी बात अवश्य मान लेता। (घूम कर आगे बढ़ते हुये) पर·····पर ऐसा नहीं है। मैं विवश हूँ; प्रभा का विवाह रुद्रसेन से करना ही होगा। यही मेरा अन्तिम निर्णय है।

[चन्द्रगुप्त विद्युत वेग से बाहर चले जाते हैं। कुबेरनागा 'सम्राट' 'सम्राट' कहती रह जाती है। बड़ी चौकी पर गिर कर वह सिसकने लगती है। नेपथ्य से करुण संगीत की ध्वनि आती है। तभी कक्ष में प्रभावती प्रवेश करती है। वह गम्भीर मुद्रा में है। अपनी माता के समीप ही बैठ कर वह उसकी पीठ पर हाथ रखती है। कुबेरनागा उठ कर फूट फूट कर रोने लगती है और उसे हृदय से लगा लेती है।]

प्रभावती--(गंभीर तथा मंद स्वर में) क्यों रो रही हो माँ?

कुबेरनागा--(सिसकते हुये) बेटी, तेरे पिता····· ···!

प्रभावती--(बीच में ही) मैं सब जानती हूँ माँ। मैं अपराधिनी हूँ। मैंने आप लोगों की बातें गुप्त रूप से सुनी हैं।

कुबेरनागा--(कातर होकर) सब कुछ सुनकर भी तू मौन है, तेरा हृदय विद्रोह नहीं करता?

प्रभावती--(दृढ़ स्वर में) नहीं। सम्राट की इच्छा ही आदेश है। आप अभी जाकर उनसे कह दें कि मैं इस सम्बन्ध से सन्तुष्ट हूँ।

कुबेरनागा--(तीव्रता से) पागल होगई है क्या तू? जानकर भी आग से खेल रही है। जानती है भट्ट जी ने·····।

प्रभावती--जानती हूं। यही न, कि मैं दस वर्ष से अधिक सौभाग्य सुख नहीं भोग सकती। क्या हुआ! सम्राट की इच्छा-पूर्ति और साम्राज्य

के हित के लिए·····।

कुबेरनागा—(बीच में ही खड़ी होकर) तू अवश्य पागल होगई है।

प्रभावती—(खड़ी होकर) पागल नहीं हूँ माँ। सम्राट वाकाटकों की सहायता प्राप्त करने के लिये व्याकुल हैं। यदि यह सम्बन्ध न हुआ तो ·····तो सम्राट युद्ध का मार्ग अपनायेंगे।

कुबेरनागा—अपनाने दे। तुझे क्या?

प्रभावती—(हँसकर) मैं युद्ध नहीं चाहती। माँ, आप मोह में पड़ी हैं। सोचिये, क्या आप केवल मेरी ही माँ हैं? क्या साम्राज्य की जनता आपकी सन्तान नहीं है! यदि युद्ध हुआ तो असंख्य ललनाओं का सोहाग लुट जायेगा, माताओं के लाल, बहनों के भाई छिन जायेंगे।

कुबेरनागा—(सिसकते हुये) बेटी·····।

प्रभावत—माँ, क्या आप चाहती हैं कि युद्ध की अग्नि में इतनी महान आहुति दी जाये, क्या आप सोन के पावन जल को अपनी ही सन्तानों के रक्त से लाल देखना चाहती हैं, क्या आप चाहती हैं कि इतिहासकार यह लिखें कि एक मोहान्ध माता ने अपनी पुत्री के कारण असंख्य नारियों के सोहाग को धूल में मिला दिया, क्या आप·····!

कुबेरनागा—(कानों में उँगलियाँ डालते हुये) बस, बेटी बस। अब मैं और अधिक नहीं सुन सकती।

प्रभावती—(समीप आकर) तो आँसू पोंछ डालिये और अपनी प्रभा को आशीर्वाद दीजिये माँ, कि वह कर्तव्य-पथ पर अचल रहे, पति-चरणों में उसका अनन्त राग रहे।

कुबेरनागा—(झपट कर प्रभावती को हृदय से लगाते हुये) बेटी, मेरी प्यारी बेटी!

[प्रभावती का मुख किसी स्वर्गीय ज्योति से दीप्त हो उठता है। कुबेरनागा उसे आलिंगन में भरे रहती है। यवनिका गिरती है।]

दो चाँद

दमिश्क के ख़लीफ़ा ने दो चाँदों से अपना
हरम सजाना चाहा पर उसे क्या ज्ञात था कि वे
चाँद भारत के हैं जो उदय के साथ साथ
हँसते हँसते अस्त होना भी जानते हैं।

— पात्र तथा स्थान —

वलीद—दमिश्क का ख़लीफ़ा ।
मुहम्मद बिन कासिम—ईराक के हाकिम हज्जाज का भतीजा तथा दामाद; मुसलमान आक्रमणकारी ।
हज्जाज—मुहम्मद बिन कासिम का चाचा तथा श्वसुर ।
सूर्यदेवी—हिन्दू राजा दाहिर की पुत्री ।
परमल देवी—सूर्य देवी की छोटी बहन ।
सैनिक आदि ।
स्थान—दमिश्क में ख़लीफ़ा के महल का एक कमरा ।
समय—सन् ७१४ की एक दोपहर ।

[कमरा सजा हुआ है। सामने की दीवार पर वलीद के पिता अब्दुल मलिक का तैलचित्र टँगा है। दाहिनी ओर का द्वार ख़लीफ़ा के अन्तःपुर की ओर खुलता है तथा बायीं ओर का द्वार बाहर जाने के लिए है। सामने की ओर एक बड़ा सिंहासन है जिसके समीप दोनों ओर दो छोटी छोटी चौकियां पड़ी हैं। फ़र्श पर क़ीमती क़ालीन बिछा है। कमरे में वलीद टहल रहा है। एक सैनिक का प्रवेश।]

सैनिक—(झुककर) हमारी फ़ौज़ें क़रीब आ पहुँची हैं अमीरुलमोमिनीन !

वलीद—क्या कासिम का कोई और पैग़ाम आया है ?

सैनिक—जी हाँ ! अभी अभी एक एलची आया है।

वलीद—हाज़िर करो।

[सैनिक जाता है। एक क्षण बाद एलची आता है। वह भी सैनिक वेश में है। वस्त्र धूल से सने हैं। यात्रा की थकान मुख पर अपने चिन्ह छोड़े है।]

वलीद—क्या पैग़ाम है कासिम का ?

एलची—(अत्यन्त विनम्रता से) सिपहसालार ने हुज़ूर के क़दमों में अपने आदाब भेजे हैं और कहा है कि जल्द ही वे पहुँच कर ख़लीफ़तुलमुस्लमीन की क़दम बोसी करेंगे।

वलीद—हमें कासिम पर नाज़ है। उसने मुसलमानों का परचम क़ाफ़िर के मुल्क में फहराया, वालिद मरहूम की तौहीन का बदला लिया और.....और उस राजा के बच्चे दाहिर को ख़ाक में मिला दिया। मैं खुश हूँ।

एलची—सिपहसालार का कहना है कि जो कुछ हुआ है हुज़ूर के क़दमों के तुफ़ैल का नतीजा है वरना वे किस काबिल हैं।

वलीद—(हँसकर) इतनी छोटी उम्र में ही उसने ऐसी फ़तह हासिल की है जिसे मैं ताउम्र नहीं भूल सकता। उसकी जाँकशी,

बहादुरी, दिलेरी और हिम्मत हमें याद रहेगी। ख़ुदा उसे उम्र दराज़ अता करे। देखना, वह एक दिन इस्लाम का झंडा दुनिया के कोने कोने में फहरा देगा।

एलची—हुज़ूर का साया उनके सर पर रहे। वे ज़रूर इस्लाम की ख़िदमत करेंगे।

वलीद—(हँसकर) क्यों नहीं ? ख़ुदा-बन्द-ताला ने उसे इसीलिये भेजा है यहाँ। अच्छा, तुम जाकर आराम करो। थके हुये हो।

[एलची झुक कर सलाम करके चला जाता है।]

वलीद—(अपने पिता के चित्र को सम्बोधित करता हुआ) आपकी तौहीन का बदला ले लिया मैंने। अब आपकी रूह को चैन मिलेगा।

[वलीद फिर टहलने लगता है। सैनिक का प्रवेश।]

सैनिक—ईराक के हाकिम हज्जाज आलीजाह की ख़िदमत में हाज़िर होने की इजाज़त चाहते हैं।

वलीद—आने दो।

[सैनिक जाता है। हज्जाज का प्रवेश। वह भी आदर से झुक कर अभिवादन करता है।]

वलीद—आओ हज्जाज ! मैं तुम्हीं को याद कर रहा था।

[वलीद सिंहासन पर बैठ जाता है। उसके संकेत करने पर हज्जाज छोटी चौकी पर बैठ जाता है।]

हज्जाज—हुज़ूर के तुफैल से कासिम.....!

वलीद—(बीच में ही) आज मैं बहुत खुश हूँ हज्जाज ! कासिम जैसा दिलेर भतीजा और दामाद पाने के लिये मैं मुबारकबाद देता हूँ।

हज्जाज—यह हुज़ूर की क़द्रदानी है वरना वह बच्चा.....!

वलीद—वह लाख बच्चा हो हज्जाज, पर उसने काम तो वह किया है जो बड़े बड़े नहीं कर सकते। १७ साल की ही उम्र में इतना हौसला, इतनी दिलेरी.....! जिस काम को उबेदुल्ला और बुतेल अपनी जान गवाँकर भी न कर सके उसे कासिम ने चुटकी बजाते कर लिया।

[बाहर दूर पर कोलाहल होता है। घोड़ों की टापों की आवाज़

भी आरही है। वलीद और हजाज खड़े हो जाते हैं। आवाज़ पास आकर थम जाती है। सैनिक आता है।]

सैनिक—सालारे-असाकरे-इस्लामियाँ मुहम्मद बिन कासिम हाज़िर·····!

वलीद—(बीच में ही) फ़ौरन भेजो !

[सैनिक का प्रस्थान; कासिम का प्रवेश। वह सैनिक वेश में है। आयु २० वर्ष की है। वह झुककर वलीद की क़दम बोसी करना चाहता है। वलीद उसे उठाकर हृदय से लगा लेता है।]

वलीद—तुम्हारी जगह इस दिल में है मेरे शेर !

हजाज—तुम इस्लाम के वह चिराग़ हो कासिम जिसका नूर जल्द ही सारी दुनिया में फैल जायेगा।

कासिम—(अदब से) मैं तो इस्लाम का एक अदना ख़िदमतगार हूँ। गर बड़ों का साया मेरे सर पर रहा तो मैं अमीरुलमोमिनीन के हुक्म की पाबन्दी कर लाने में ज़रूर कामयाबी हासिल कर सकूँगा।

हजाज—शाबाश, बेटे शाबाश !

वलीद—बैठ जाओ कासिम और मुझे अपने अजीबो-ग़रीब कारनामे सुनाओ।

कासिम—(सर झुकाकर) जो हुक्म आलीजाह !

[वलीद सिंहासन और कासिम तथा हजाज चौकियों पर बैठ जाते हैं।]

वलीद—हाँ कासिन, शुरू करो अपनी दिलेरी की दिलचस्प दास्तान ! मैं बेक़रार हो रहा हूँ सुनने के लिए।

कासिम—हुज़ूर का फ़रमान पाते ही मैं हिन्दोस्तान पर उसी तरह टूट पड़ा जैसे परिन्दों के झुन्ड पर बाज़ टूटता है। हम जिधर जाते थे उधर काफ़िरों का सफ़ाया हो जाता था। हमने ख़ून के दरिए बहा दिये आलीजाह और उन दरियों में सर ही सर तैरते दिखाई देते थे।

वलीद—बहुत ख़ूब कासिम, बहुत खूब ! दास्तान जारी रहे !

कासिम—देबुल पहुँचने पर एक बिरहमन ने मुझे बताया कि चार हज़ार राजपूत शहर की और तीन हज़ार बिरहमन मन्दर की

हिफ़ाज़त कर रहे हैं। उसने यह भी बताया कि मन्दर की गुम्मद पर लगे लाल झंडे को जब तक न गिराया जायेगा तब तक फ़तह हासिल न होगी। लिहाज़ा मैंने अपने तीरों से झन्डे को काट दिया। फिर क्या था? काफ़िर भागने लगे और शहर पर हमारा कब्ज़ा हो गया। शहर वालों ने चूँकि इस्लाम को कुबूल करने से इन्कार किया इसलिए ११ साल से ऊपर के लोगों को मौत के घाट उतार दिया और बच्चों व औरतों को गुलाम बना लिया, आलीजाह!

वलीद—(उत्सुकता से) और उस मन्दर का क्या हुआ?

कासिम—उसे तोड़कर वहाँ एक मसजिद बनवा दी है आलीजाह।

वलीद—(सन्तोष से) ठीक किया। आगे का बयान जारी रहे।

कासिम—देबुल से हमारी फ़ौजों ने नीरून की तरफ़ कूच किया। वहाँ का हाकिम दाहिर का फ़रज़न्द जयसिंह था। वह डर कर भागा और क़िले की हिफ़ाज़त का ज़िम्मा एक पंडत पर छोड़ गया।

वलीद—(बीच में ही) पंडत क्या बला है कासिम?

कासिम—जैसे अपने यहाँ पीर होते हैं आलीजाह, वैसे ही काफ़िरों में पंडत।

वलीद—(हँसकर) पंडत और क़िले की हिफ़ाज़त!...हा···हा···

कासिम—पंडत ने क़िला मुझे सौंप दिया। नीरून से हम सेहबान की तरफ़ बढ़े। वहाँ दाहिर का चचेरा भाई बजहरा हाकिम था। एक हफ्ते की जंग के बाद वह भागा और सीसम के जाटों के यहाँ पनाह ली। हमने सीसम पर धावा किया। इसी जंग में दाहिर का चचेरा भाई बम्मारा मौत के घाट उतार दिया गया।

वलीद—बहुत खूब! दाहिर के ख़ान्दान का बच्चा-बच्चा तलवार के घाट उतरना चाहिये। दाहिर कितना मग़रूर था!

कासिम—ग़रूर का सर हमेशा नीचा होता है आलीजाह! सीसम फ़तह करके हम बिरहमनाबाद की तरफ़ बढ़े। राउर में दाहिर से मुक़ाबिला हुआ। उसे देखते ही मेरा ख़ून खौल उठा। वह हाथी पर था इसलिये·····!

वलीद—(आश्चर्य से) हाथी?

कासिम--जी हाँ ! काफ़िर लोग जंग में हाथियों से काफ़ी मदद लेते हैं। हाथी पर होने की वजह से मेरी तलवार उस तक पहुँच न सकती थी। लिहाज़ा मैंने तीर चलाया। तीर हाथी के लगा और वह भागकर क़रीब के एक दरिया में घुस गया।

हज्जाज—अच्छा ! फिर क्या हुआ ?

कासिम—महावत ने हाथी घुमाया। दाहिर फिर जंग करने लगा। मैंने फिर तीर चलाया। इस बार का निशाना अचूक था। तीर दाहिर के लगा। वह गिर गया आलीजाह ! लेकिन·····!

हज्जाज—(बीच में ही) लेकिन·····!

कासिम—लेकिन वह हिम्मत न हारा। फौरन एक घोड़े पर चढ़कर घमासान जंग करने लगा। उसकी तलवार जिधर घूम जाती थी उधर कटे हुए सर ही सर दिखाई देते थे। उसकी तेग़ के करिश्मे देखकर दाँतों तले उँगली दबा ली मैंने। काफ़िरों की फ़ौज में दूना जोश आ गया और·····और हमारी फ़ौज पीछे हटने लगी। मैं घबराया। ख़ुदा-बन्द-ताला को याद करके मैंने अपनी तलवार निकाली और दाहिर से जा भिड़ा। ख़ुदा के करम और आलीजाह के तुफ़ैल से दूसरे ही लहमें में मैंने इसी तलवार से दाहिर के दो टुकड़े कर दिये।

वलीद--(ख़ुशी से उछलकर) शाबाश कासिम, शाबाश ! हमें तुम्हारी तलवार पर नाज़ है।

[कासिम उठकर म्यान से तलवार निकालता है और वलीद के सामने झुककर तलवार उसके पैरों से छुलाकर खड़ा हो जाता है।]

कासिम—(तलवार ऊपर उठाते हुए) इस तलवार की धार को तेज़ी तो हुज़ूर ने ही बख़्शी है आलीजाह, वरना यह तो कुन्द हो चुकी थी।

वलीद—(प्रसन्न होकर) सब ख़ुदा की मेहरबानी है कासिम। हम सब इस्लाम के बन्दे हैं।

[कासिम तलवार म्यान में रखकर बैठ जाता है।]

हज्जाज--फिर क्या हुआ कासिम ?

कासिम—दुश्मनों के पैर उखड़ गये। दाहिर की बेगम रानीबाई

आग में कूद गई। हम बिरहमनाबाद पहुँचे। दाहिर का लड़का जयसिंह क़िले की हिफ़ाज़त कर रहा था। ६ महीने की जंग के बाद क़िला हमारे हाथ लग गया।

वलीद—इस्लामी तवारीख़ में तुम्हारा नाम सुनहरे लफ़्ज़ों में लिखा जायेगा कासिम।

कासिम—क़िला तो मिल गया आलीजाह, मगर जयसिंह भाग गया। सुना है वह चित्तौर की तरफ़ गया है।

वलीद—(उदास होकर) यह तो बुरा हुआ कासिम। ख़ैर इस बार चित्तौर तक हमारी फ़ौजें जायेंगी।

कासिम—ऐसा ही होगा आलीजाह! जयसिंह का सर इन क़दमों पर ज़रूर लोटेगा।

वलीद—इन्शाअल्लाह, ऐसा ही होगा। आगे क्या हुआ?

कासिम—बिरहमनाबाद फ़तह करके मैं अरोर की तरफ बढ़ा। वहाँ दाहिर का दूसरा फ़रज़न्द फ़फ़ी क़िलेदार था। जैसे ही उसे अपने वालिद की मौत का यक़ीन हुआ वैसे ही वह भी क़िला छोड़कर चित्तौर की तरफ़ भाग गया।

वलीद—अब तो चित्तौर की ईंट से ईंट बजानी ही पड़ेगी। कासिम, सच कहना क्या काफ़िर सचमुच बहुत बहादुर हैं?

कासिम—उनकी बहादुरी में कोई शक नहीं पर साथ ही साथ उनमें आपसी जलन और फूट जैसी कमज़ोरियाँ भी हैं। इन्ही कमज़ोरियों से मैंने फ़ायदा उठाया।

वलीद—उठाना ही चाहिये। जिस तरह भी हो दुश्मन को मात देना ही सच्ची सियासत है।

कासिम—अरोर के बाद कई छोटे-मोटे क़िलों पर इस्लाम का पाक झंडा बुलन्द करता हुआ मैं मुल्तान की तरफ़ बढ़ा। मुल्तान में काफ़ी घमासान जंग हुई। फ़तह की कोई सूरत ही नज़र नहीं आती थी। मैं मन ही मन मायूस हो रहा था कि अल्लाताला ने रहम का हाथ बढ़ाया।

हजाज—ख़ुदा इस्लाम के बन्दों की मदद करता ही है कासिम!

कासिम—जैसा मैंने अभी अर्ज़ किया था, काफ़िरों में फूट बहुत है। यहाँ भी वैसा ही हुआ। एक ऊँचे हाकिम को हमने रिश्वत देकर उस नहर का पता लगा लिया जिससे शहर को पानी जाता था। फ़ौरन उस नहर को बरबाद करवा दिया मैंने। काफ़िर लोग प्यास से तड़प तड़प कर मरने लगे और लाचार होकर उनकी फ़ौजों को झुकना पड़ा।

वलीद—तुम्हारी दूरन्देशी पर मैं बहुत खुश हूँ कासिम!

कासिम—यह आप की नवाजिश है आलीजाह वरना मैं तो एक नाचीज़ अदना हूँ। मुल्तान से मैंने अबू हकीम को दस हज़ार घुड़सवारों के साथ कन्नौज भेजा है। मैं हुज़ूर की क़दम बोसी करने चला आया। सुबह फिर लौट जाऊँगा।

वलीद—ज़रूर, ज़रूर! दाहिर के दोनों फ़रज़न्दों के सिर लाकर दमिश्क के सदर दरवाज़े पर टाँगना। ख़ुदा इस नेक काम में तुम्हारी मदद करेगा। हाँ, अब यह बताओ कासिम कि लूट में क्या मिला! हिन्दोस्तान तो सोने की चिड़िया है।

कासिम—गुस्ताख़ी माफ़ हो अमीरुलमोमिनीन! हुज़ूर ने मेरे मुँह की बात छीन ली। हिन्दोस्तान वाक़ई हिन्दोस्तान है। हज़ारों मन सोना, सैकड़ों बेशक़ीमती हीरे और लाखों ग़ुलाम लाया हूँ अपने साथ। ग़ुलाम दमिश्क के बाज़ार मे बेचे जायेंगे। करोड़ों दीनार शाही ख़ज़ाने में बढ़ जायेंगे।

वलीद—करोड़ों दीनार·····! कासिम, तब तो हम अपनी फ़ौज बढ़ा सकेंगे, ज़मीन के कोने कोने में इस्लामी सल्तनत क़ायम कर सकेंगे।

कासिम—बेशक आलीजाह! गर ख़ता माफ़ हो तो·····!

वलीद—हाँ, हाँ! कहो, क्या कहना चाहते हो!

कासिम—हिन्दोस्तान हर मानी में जन्नत है। जन्नत में भी वैसी हूरें न होंगी जैसी वहाँ हैं। ग़ज़ब का हुस्न मिला है वहाँ की नाज़नीनों को।·····इसीलिये··· इसीलिये मैं हुज़ूर के हरम के लिये हिन्दोस्तान से दो नायाब मोती लाया हूँ।

वलीद—(आश्चर्य से) हरम के लिए नायाब मोती ?

कासिम—जी, आलीजाह ! दाहिर की दुख़्तर सूरजदेवी और परमलदेवी। मेरे दमिश्क आने का यही सबब है आलीजाह ! इन अनमोल तोहफ़ों को हूज़ूर के क़दमों में मैं ख़ुद पेश करना चाहता था।

वलीद—तुम्हारी ख़्वाहिश पूरी होगी कासिम ! मैं बहुत ख़ुश हूँ तुम पर। तुम जो चाहो, माँग सकते हो।

कासिम—मुझे आप की नज़रे-इनायत के अलावा और कुछ नहीं चाहिये आलीजाह ! सोना और हीरे-जवाहिरात शाही ख़ज़ाने में भेज दिये हैं। बस, वे दो ख़ुशनुमा मोती हुज़ूर का नयाज़ पाने के लिये बेताब हो रहे होंगे।

वलीद—(ज़रा अकड़ कर बैठता हुआ) पेश हों।

कासिम—जो हुक्म !

[कासिम उठकर बाहर जाता है। कुछ ही देर बाद वह वापस आता है। उसके पीछे भारतीय वेश-भूषा में सूर्यदेवी और परमलदेवी हैं। उनके मुखों पर हल्के से अवगुंठन पड़े हैं। वे दोनों एक कोने में खड़ी हो जाती हैं। उनकी दृष्टि फ़र्श पर गड़ी है। कासिम आगे बढ़कर वलीद के सामने अदब से झुकता है।]

वलीद—ये हैं वे मोती ?

कासिम—जी हाँ ! यही हैं वे मोती जिन्हें मैं हिन्दोस्तान के गहरे समन्दर में ग़ोता लगाकर आलीजाह के क़दमों की रौनक अफ़ज़ाई करने के लिये लाया हूँ।

वलीद—बहुत ख़ूब ! पर यह नक़ाब कैसा ?

कासिम—(झुककर) नक़ाब इसलिये है आलीजाह कि दो दो चाँदों को देखकर लोग धोखे में न पड़ जायें।

वलीद—बादलों में छिपे चाँद के हुस्न को कौन देखे ? हुस्न और जवानी को तो बेनक़ाब ही रहना चाहिए। अच्छा, अब तुम जाओ कासिम ! सुबह तुम्हें फिर कूच करना है।

[कासिम सर झुका कर चला जाता है। हज्जाज भी संकेत समझकर

बाहर चला जाता है ।]

वलीद—आओ महजबीनों मेरे क़रीब आओ !

[सूर्यदेवी और परमलदेवी अपने स्थान पर सर झुकाये खड़ी रहती हैं ।]

वलीद—हुस्न के कान जितने छोटे हैं इश्क की ज़ुबान उतनी ही बड़ी । आओ, खड़ी क्यों हो ? नाज़ के क़दमों में आबले पड़ जायेंगे ।

[दोनों उसी प्रकार खड़ी रहती हैं ।]

वलीद—(अपेक्षाकृत तीव्र स्वर में) क्या इसका इन्तज़ार है कि मैं ख़ुद दस्तेनाज़ुक पकड़ कर बिठाऊँ ?

[दोनों एक-दूसरे की ओर देखती हैं और फिर कुछ निश्चय कर मन्दगति से आकर चौकियों पर बैठ जाती हैं ।]

वलीद—(कोमल स्वर में) शुक्रिया । अब ज़रा नक़ाब हटाओ ताकि मेरी प्यासी आँखों को आबेहयात मिल सके ।

[दोनों अवगुंठन और नीचा कर लेती हैं ।]

वलीद—ऐसी क्या ख़ता हो गई मुझसे ? ज़ुबान ने गर ग़लती की भी हो तो उसकी सज़ा आँखों को क्यों मिले ? हटाओ नक़ाब वरना इश्क ख़ुद ही हुस्न को बेनक़ाब कर देगा ।

[वलीद का आशय समझकर दोनों फिर एक दूसरे की ओर देखती हैं । आँखों ही आँखों में सूर्यदेवी आदेश देती है । दोनों अवगुंठन हटा देती हैं । दोनों ही सौन्दर्य और यौवन की प्रतिमायें हैं ।]

वलीद—(आश्चर्य से कभी सूर्यदेवी और कभी परमलदेवी की ओर देखता हुआ) ऐसा बेदाग़ हुस्न तो कभी नहीं देखा । कासिम भी कितना पागल था जो तुम्हें चाँद कह रहा था ! चाँद के चेहरे पर तो काला दाग़ है और·····और तुम दोनों·····! क्या कहूँ ? कोई मिसाल नहीं सूझती ! तुम दोनों में कौन बेहतर है इसका फ़ैसला करना भी निहायत मुश्किल है । एक दूसरे को मात दे रही हो । मेरा हरम जगमगा उठेगा ।

सूर्यदेवी—जी, मैं आप की बात समझी नहीं ।

वलीद—(हँसकर) अच्छा तो हुस्न के ज़ुबान भी है । क्या नाम

हैं तुम दोनो के ?

सूर्यदेवी—सूर्य देवी और परमलदेवी ।

वलीद—नाम अच्छे हैं । पर अब इन्हें भूलना होगा ।

सूर्यदेवी—क्यों ?

वलीद—काफ़िर लड़कियों को अपने हरम में कैसे रख सकता हूँ ? पहले इस्लाम कुबूल करना होगा, नए नाम रखने होंगे ।

परमल देवी—हम भारतीय हैं । अपने पिता के हत्यारे .....

वलीद—(बीच में ही) हत्यारे ? मैंने ख़ूने-नाहक नहीं बहाया है । तुम्हारा वालिद हमारा दुश्मन था । उसने वालिद मरहूम की तौहीन की थी । इसीलिये उसका ख़ून किया गया, उसकी सल्तनत को उजाड़ा गया ।

सूर्य देवी—यह झूठ है । धन के लोभ ने तुम्हें हमारे देश पर हमला करने के लिये विवश किया । तुम लुटेरे हो ! हम अपने घर में खुश थीं । हमारा घर उजाड़ कर क्या मिल गया तुम्हें ?

वलीद—बहुत कुछ मिला है, बहुत कुछ ! फिर भी यह कहना कि किसी लालच की वजह से हमला किया गया ग़लत है ।

परमल देवी—फिर क्यों घुसे थे हमारे देश में ?

वलीद—असली वजह सुनना चाहती हो ? सुनो । मेरे वालिद मरहूम ने अपने कुछ आदमियों को ग़ुलाम ख़रीदने के लिये तुम्हारे मुल्क हिन्दोस्तान में भेजा था । देबुल में कुछ बहरी डाकुओं ने उनके जहाज़ को लूट लिया और आदमियों को क़त्ल कर दिया ।

सूर्यदेवी—अच्छा किया । क्या भारत दास-दासियों की खान है ? तुमने हमारे देश का अपमान किया था । उसका उचित ही उत्तर मिला था तुम्हें ।

वलीद—आख़िर हो तो दाहिर की ही बेटी ! ख़ैर, कुछ ही दिनों बाद सिंहल के राजा ने ईराक़ के अमीर हजाज के पास एक जहाज़ में उन मुसलमान तिजारतियों की अनाथ लड़कियाँ भेजीं जिनके वालदैन उसकी सल्तनत में मर चुके थे । चूँकि सिंहल के राजा ने पाक इस्लाम कुबूल कर लिया था इस लिए उसी जहाज़ पर मेरे

लिए कुछ तोहफ़े भी भेजे थे। उसे डाकुओं ने लूट लिया। यह सब तुम्हारे वालिद के इशारे पर हुआ।

परमलदेवी—समुद्री डाकुओं पर किसी का क्या अधिकार है? पिता जी का उनसे क्या सम्बन्ध हो सकता था?

वलीद—यही जवाब दिया था तुम्हारे वालिद ने उस ख़त का जो हज्जाज ने मकरान के हाकिम की मार्फ़त भेजा था।

सूर्यदेवी—ठीक ही तो था उनका उत्तर।

वलीद—तुम्हारे ख्याल में ठीक हो सकता है पर यह हमारी तौहीन थी। लिहाज़ा उबेदुल्ला को हमला करने के लिये भेजा। वह जंग में मारा गया। दूसरी बार बुतेल गया। उसका भी वही हश्र हुआ। तीसरी बार दिलेर कासिम गया और वह अपने इरादे में कामयाब रहा। हमारी तौहीन का पूरा बदला ले लिया उसने।

परमलदेवी—इसे तुम बदला कहते हो? यही बदला है? घूस दे देकर हमारे आदमियों को तोड़ा, चालों से दुर्गों पर अधिकार किया, असंख्य निरपराधों का रक्त बहाया, हज़ारों स्त्री-बच्चों को दास बनाया, सैकड़ों गाँव जलादिये, खड़ी फसलें उजाड़ दीं। इन अत्याचारों से तुम खुश हो—तुम जो कि इस्लाम धर्म के नेता हो।

वलीद—हाँ, मैं इस्लाम का ख़लीफा हूँ, इस्लामी सल्तनत का मालिक हूँ। इस्लाम पाक को दूर दूर तक फैलाना ही मेरा फर्ज़ है।

सूर्यदेवी—जो जो अत्याचार किये गये हैं इस्लाम के नाम पर क्या वे मनुष्यता के नाते सही हैं? इस्लाम की यही शिक्षा है?

वलीद—हमारा इस्लाम पहले दोस्ती का हाथ बढ़ाता है पर जो उसे पकड़ने से इन्कार करता है उसका सर धड़ पर नहीं रहता है।

परमलदेवी—अच्छा धर्म है तुम्हारा! पर इसका फल क्या हुआ? भारत के बच्चे बच्चे में तुम्हारे सेनापति कासिम ने अपने क्रूर कृत्यों से तुम्हारे धर्म के प्रति घृणा के भाव भर दिये हैं। सहिष्णुता ही धर्म की कसौटी है। धर्मान्ध हो कर किये गये नृशंस कार्य कभी भी किसी के हृदय को नहीं जीत सकते।

वलीद—दिल जीतने का हमें दूसरा तरीक़ा भी आता है।

सूर्यदेवी—जानती हूँ। कासिम ने कदाचि हमारी माता का हृदय उसी उपाय से जीता होगा!

वलीद—तुम्हारी माँ·····?

परमलदेवी—हाँ! हमारे पिता को मृत्यु के घाट उतार कर उसे सन्तोष न हुआ। जब हमारी पहली माता रानीदेवी ने अग्नि में प्रवेश किया तब तो वह और भी क्रुद्ध हुआ। उसका क्रोध उतरा हम पर और हमारी दूसरी माता लादी पर।

वलीद—कासिम ने इस का तो कोई ज़िक्र नहीं किया।

सूर्यदेवी—क्यों करता? अपने पाप का पर्दा कौन उठाता है?

वलीद—क्या किया उसने, मुझे जल्द बताओ।

परमलदेवी—उसने बलपूर्वक हमारी माता लादी से शादी की, उनका धर्म बिगाड़ा।

वलीद—यह तो सरासर ज़्यादती है। कासिम से मैं जवाब तलब करूँगा। उसने जो कुछ किया उसके लिए मैं शरमिन्दा हूँ। छोड़ो उन बीती हुई बातों को और आने वाले दिनों की·····!

सूर्यदेवी—अतीत का अंधकार भविष्य पर भी छा जाता है। हमारा देश·····!

वलीद—उसे भूल जाओ। दमिश्क भी बुरा नहीं है। रही वालिद की याद सो उसे मैं अपनी मुहब्बत से भुला दूँगा!

परमलदेवी—प्यार·····? क्या सचमुच हमें प्यार मिलेगा?

वलीद—ज़रूर! हुस्न और इश्क का चोली दामन का साथ है।

सूर्यदेवी—मैं समझती थी कि हमारे साथ दासियों जैसा व्यवहार होगा, बलपूर्वक हमारे शरीरों पर अधिकार किया जायेगा। पर···पर आप का मीठा व्यवहार, मीठी बातें, किन शब्दों में धन्यवाद दें आपको?

[अचानक 'तुम' से 'आप' बन जाने पर वलीद प्रसन्न हो उठता है। वह मुस्कराकर दोनों की तरफ़ देखता है।]

वलीद—हम इन्सान की क़द्र करना जानते हैं। मैं तुम्हें ज़ोर से नहीं, मुहब्बत से जीतूँगा।

सूर्यदेवी—आप बहुत भले हैं। आप की प्यार भरी बातों ने हमें जीत लिया। सौभाग्य है यह हमारा जो आप जैसों का प्यार मिला। आप के साथ विवाह करके हम अपने को धन्य समझतीं पर···!

वलीद—(व्यग्रता से) पर क्या ?

सूर्यदेवी—(गंभीर वाणी से) पर हम आप के योग्य नहीं हैं।

वलीद—(हँसकर) हुस्न अन्धा होता है। इश्क उसकी आँख है। चाँद को अपने हुस्न का क्या पता, मोती को आब का क्या इल्म ?

परमल देवी—चाँद के रूप में कलंक की कालिमा होती है। मोती का जब पानी उतर जाता है तो वह दो कौड़ी का हो जाता है।

वलीद—(न समझने के ढंग से) क्या मतलब है तुम्हारा ?

सूर्यदेवी—(सर झुकाकर) आपको अर्पित करने के पूर्व ही कासिम बलपूर्वक हमें भ्रष्ट कर चुका है।

[वलीद चौंककर खड़ा हो जाता है। क्रोध से वह काँपने लगता है।]

वलीद—(तीव्र स्वर में) क्या यह सच है ? गर यह मज़ाक है तो बहुत मँहगा है।

सूर्यदेवी—(सर झुकाये मन्द स्वर में) यह सच है ? हम जानती थीं कि इस ज्ञान से आपके हृदय पर चोट लगेगी इसीलिये कुछ कहना न चाहती थीं, परन्तु आपकी सज्जनता और सहृदयता देखकर आप को धोखा देना, और अँधेरे में रखना ठीक न लगा। यदि अब भी आप हमसे विवाह करना चाहते हैं तो हम सहर्ष प्रस्तुत हैं।

वलीद—(क्रोध से काँपते हुये) कासिम को यह मजाल ·····? मुझी को धोखा, मेरे ही साथ चालबाज़ी ! नीच, कमीने ! मैंने तुझे बनाया है तो बिगाड़ भी सकता हूँ।

[वलीद आवेश से ताली बजाता है। सैनिक आता है।]

वलीद—कासिम जहाँ भी हो उसे पकड़ कर मेरे सामने पेश करो। ठहरो ! मैं उसे ज़िन्दा नहीं, उसकी लाश देखना चाहता हूँ। बैल की गीली खाल के बोरे में बन्द करके उसे सड़क पर घसीटते हुये लाओ ताकि वह यहाँ पहुँचने के पेश्तर ही दोज़ख में पहुँच जाये।

[सैनिक विद्युत वेग से चला जाता है। सूर्यदेवी वलीद की दृष्टि

बचाकर परमलदेवी की ओर देखती है। दोनों मुस्कराती हैं। उनके मुखों पर सन्तुष्टि के चिन्ह हैं।]

वलीद—मेरी तौहीन करना मौत को बुलाना है। ताज्जुब है कि कासिम को इतनी ज़ुर्रत कैसी हुई?

परमलदेवी—वह तो हमारे देश में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखता था।

वलीद—(क्रोध से) अच्छा!

सूर्यदेवी—वह बहुत महत्वाकांक्षी था।

वलीद—बुराई का अन्जाम हमेशा बुरा होता है। वह मुझसे झूठ बोला, उसने मुझे धोखा दिया, गलतफ़हमी मे रक्खा। मैं तुम लोगों का शुक्रगुज़ार हूँ कि वक्त पर मेरी आँखें खोल दीं।

परमलदेवी—आप तो अभी कह रहे थे कि सौन्दर्य अन्धा होता है और प्रेम उसे आखें देता है।

वलीद—ख़ैर, देर आयद दुरस्त आयद!

सूर्यदेवी—जी हाँ, दिन का भूला रात को घर आ जाये तो भूला नहीं कहा जाता। मै तो.....।

[सूर्यदेवी की बात अपूर्ण रह जाती है। कुछ सैनिक खाल के एक बोरे को घसीटते हुये लाते हैं। बोरा कमरे के बीच मे रखकर वे सर झुकाकर खड़े हो जाते हैं।]

वलीद—बोरे में हवा जाने की गुन्जायश तो नही है।

एक सैनिक—नही अलीजाह।

वलीद—ठीक है। तब तो मर गया होगा। खोलो बोरा ताकि इस बदज़ात के मुँह पर थूक सकूँ।

[सैनिक बोरा खोलते है। कासिम का पीला मुख दिखाई देता है। वलीद घृणा से मुख पर थूकता है। कासिम को मृत देखकर दोनों बहनें पागलों की तरह हँसती है।]

सूर्यदेवी—(कासिम की लाश को ठुकराते हुये) नीच, पापी कमीने! मिल गया तुझे अपने कर्मों का फल!

परमलदेवी—आज पिताजी. माताजी और भाइयों की हत्या का

प्रतिशोध ले लिया हमने ! आज हमारा प्रण पूरा हुआ !

वलीद—(सैनिकों से) लाशों को बाहर ले जाओ

[सैनिक बोरा बाहर ले जाते हैं ।]

वलीद—तुम लोगों की हँसी का मतलब मेरी समझ में नहीं आया ।

परमलदेवी—सच ? बहुत भोले हैं आप !

सूर्यदेवी—(हँसकर) भोले न होते तो हमारे जाल में कैसे फंसते, नीच कासिम को दंड कैसे मिलता और हमारा.....हमारा प्रतिशोध पूरा कैसे होता ?

वलीद—(घबराकर) कैसा जाल ? क्या कह रही हो तुम ?

परमलदेवी—जानना चाहते हैं ? सुनिये ! कासिम ने हमें भ्रष्ट नहीं किया था । हम आज भी गंगा जल की भाँति पवित्र हैं !

वलीद—(क्रोध से) क्या बक रही हो ?

सूर्यदेवी—ठीक है यह ! कासिम से बदला लेने के लिये ही हम झूठ बोलीं । आपने हमारे असत्य पर विश्वास कर लिया ! ठीक भी है । आपको क्या ज्ञात कि भारतीय ललनायें जीवन से अधिक अपनी लाज को महत्व देती हैं ! आपने मान लिया कि कासिम ने हमें वास्तव में भ्रष्ट कर दिया है । आपने यह न सोचा कि यदि ऐसा होता तो हम जीवित ही न रहतीं ।

परमलदेवी—प्रतिशोध लेने के लिये ही हम जीवित रहीं, दासी बनकर भारत से दमिश्क आईं । अन्यथा संसार की कोई भी शक्ति हमें बन्दी बनाकर नहीं ला सकती थी । आपने समझा हम अबला हैं पर कदाचित आप यह भूल गये कि हम जीना जानती है तो हँसते हँसते मरना भी जानती हैं ।

वलीद—(क्रोध से काँपते हुये) बदज़ात नागिनो ! मुझे नहीं मालूम था कि इतनी ज़हरीली हो तुम ! आज तुम्हारा ज़हर तुम्हीं पर चढ़ेगा । देखता हूँ कैसे हँसते हँसते मरती हो !

[वलीद ज़ोर से ताली बजाता है । कुछ सैनिक आते हैं ।]

वलीद—पकड़ लो इन नागिनों को । मैं इन्हें ऐसी सज़ा दूँगा —ऐसी सज़ा दूँगा जो तवारीख़ के पन्नों में सुनहले हर्फों में लिखी

जायेगी। ले जाओ इन्हें और तेज़ घोड़ों की दुमों में बाँध कर दमिश्क के बाज़ारों में घसीटो ताकि ये तड़प तड़प कर दम तोड़ें और शहर के लोग इन काफ़िरों के मुँह पर थूक सकें। ले जाओ!

[सैनिक उन्हें पकड़ने के लिये आगे बढ़ते हैं। वे दोनों पीछे हटती हैं। उनके मुखों पर दिव्य ज्योति है।]

परमलदेवी—(तीव्र स्वर में) ठहरो सैनिको! हमें छूने की चेष्टा न करना!

[सैनिक रुककर वलीद की ओर देखते हैं।]

सूर्यदेवी—(वलीद से) हमारा जीना तो देख लिया, अब मरना भी देखो। हमारा उद्देश्य पूरा हो गया है। हमें जीवन की अभिलाषा नहीं। हम मरेंगी पर उस तरह नहीं जैसा आपने कहा है। हम कायरों की नहीं, वीरों की मौत मरेंगी। जीते जी हमें कोई नहीं छू सकता। हमारी लाशों के साथ आप जो चाहें करें।

[दोनों बहनें एक दूसरे की ओर देखती हैं। वे विद्युत वेग से अपनी कंचुकियों में छिपी छोटी छोटी कटारें निकाल कर अपने वक्षस में भोंक लेती हैं। वलीद और सैनिक देखते रह जाते हैं। दोनों के मृत शरीर फर्श पर गिर जाते हैं। नेपथ्य से करुण-संगीत की ध्वनि आती है। सैनिक वलीद का संकेत पाकर बाहर जाते हैं। वलीद धीरे धीरे उनकी ओर बढ़ता है और घुटनों के बल बैठ कर उनके मुखों को ढँक देता है।]

वलीद—(निःश्वास छोड़कर उठते हुये) वाक़ई तुम मरना जानती थीं। बहादुर बाप की बहादुर बेटियाँ, काश! तुम दमिश्क में पैदा हुई होतीं!

[वलीद सर झुकाए मंद गति से द्वार की ओर बढता है। धीरे धीरे यवनिका गिरती है।]

प्यार और प्यास

प्यार अन्धे को आँखे देता है और प्यास आँख वालों को भी अन्धा कर देती है।

खँगार में उपासना थी पर जयसिंह में वासना।

उपासना को हृदय और शरीर दोनों मिले पर वासना को न हृदय मिला और न शरीर।

छोटा कुमार—(रानकदे के समीप बैठकर) माँ ! बाहल फिल ललाई हो रही है । हमें भी छोती छी तलबाल ले दो । हम भी ललेंगे ।

रानकदे—हाँ, हाँ । ले देंगे । जब बड़े हो जाओ तब लड़ना ।

बड़ा कुमार—माँ ! हम तो बड़े हो गये हैं । हम लड़ें ?

रानकदे—(हँस कर) अभी नहीं । जब पिता जी के बराबर हो जाओ तब ।

छोटा कुमार—(रूठकर) नहीं माँ । हम तो अभी ललेंगे ।

रानकदे—नहीं बेटा, अभी नहीं ।

छोटा कुमार—अच्छा माँ! जब बले हो जायेंगे तो तलबाल ले देना।

बड़ा कुमार—हमें भी माँ ! अच्छा माँ, यह बताओ कि पिता जी लड़ते क्यों हैं ? लड़ाई अच्छी होती है माँ ?

रानकदे – (बड़े कुमार का हाथ पकड़कर समीप बिठाते हुये) नहीं बेटा, लड़ना बुरी बात है । पिता जी तो देश की रक्षा के लिये लड़ते हैं । पाटन का राजा जयसिंह हमारा देश छीनना चाहता है, उसी से लड़ते हैं पिता जी । यदि न लड़ें तो वह हमारा घर छीन ले । फिर हम कहाँ रहें ?

छोटा कुमार—बहुत बुला है जयछिंग । बला होकल मैं भी ललूँगा उछछे ।

[बाहर से सैनिक वेश में खँगार का प्रवेश । उसकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की है । विशाल स्कन्ध और वक्षस चौड़ा है । उसके मुख पर तेज है और आँखों में एक विचित्र चमक । रानकदे और दोनों कुमार उठते हैं ।]

खँगार—(छोटे कुमार को गोद में लेकर) किससे लड़ोगे बड़े होकर ?

रानकदे—(हँसकर) जयसिंह से । वह बहुत बुरा है न !

खँगार—(कुमार को उतारते हुये) अच्छा ! जाओ अब खेलो ।

[दोनों कुमार जाते हैं । खँगार बैठ जाता है । रानकदे समीप ही बैठ जाती है । उसकी मुद्रा गंभीर और उदास हो जाती है ।]

खँगार—(हँसकर) आज चाँद पर चिन्ता के बादल कैसे ?

रानकदे—(गंभीर स्वर में) रात्रि में मैंने भयंकर स्वप्न देखा है । कल सन्ध्या से ही निरन्तर दाहिनी आँख फड़क रही है । हृदय बैठा जा रहा है मेरा । न जाने क्या होने वाला है !

खँगार—क्षत्राणी होकर ऐसे वचन निकालती हो मुख से ! स्वप्न से डरना कबसे सीख लिया ?

रानकदे—अपशकुनों ने मुझे मृत सा कर दिया है । मेरा हृदय...

खँगार—(बीच में ही) अंध विश्वासों में फँसना ठीक नहीं रेनू ! याद है तुम्हें जब मैंने तुमसे अपना प्रणय-निवेदन किया था तब तुमने क्या कहा था ?

रानकदे—याद है । मैंने कहा था कि मेरे ग्रह अशुभ हैं, मैं जहाँ जाऊँगी नाश मेरे पीछे जायेगा । इसी लिये पिता ने जन्म होते ही मेरा परित्याग कर दिया ।

खँगार—ठीक है । एक कुम्भकार ने तुम्हारा पालन-पोषण किया । तुम १६ वर्ष तक वहाँ रहीं पर उसका तो कोई अहित न हुआ । लगभग १५ वर्ष से तुम जूनागढ़ में हो पर मुझपर तो कोई आपत्ति नहीं आई ।

रानकदे—कोई आपत्ति नहीं आई ? जब से यहाँ आई हूँ तभी से तो जयसिंह बार बार आक्रमण कर रहा है । युद्धाग्नि में जन-धन की आहुति आपत्ति नहीं होती ?

खँगार—(हँसकर) पर यह क्यों भूल जाती हो रेनू, कि जयसिंह को सदैव पराजित होकर ही लौटना पड़ा है ।

रानकदे—यह भूलती नहीं हूँ पर.....पर इस बार..... इस बार न जाने क्यों मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है ।

खँगार—यह नारी-हृदय की दुर्बलता है । इस बार भी तो वह तीन मास से दुर्ग घेरे पड़ा है पर क्या बिगाड़ सका है हमारा ? अभी तीन वर्ष और पड़ा रहे तब भी जूनागढ़ का दुर्ग अजेय ही रहेगा ।

रानकदे—यदि जूनागढ़ देकर ही उसकी साम्राज्य-लिप्सा शान्त हो तो दे दीजिये । जीवन है तो सब कुछ है । हम नया.....।

खँगार—वह जूनागढ़ नहीं, तुम्हें चाहता है रेनू ।

रानकदे--(चकित होकर) मुझे ?

खँगार--हाँ ! वह तुमसे विवाह करना चाहता था ।

रानकदे--जानती हूँ । पर तब मैं कुमारी थी । मैंने भी उसके शौर्य और पराक्रम की गाथायें सुनकर कभी उसकी कल्पना की थी किन्तु.....किन्तु उसके आने के पूर्व ही आपने मेरे हृदय को जीत लिया । अब मैं आपकी हूँ, जूनागढ़ की हूँ । उससे और उसके पाटन से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं ।

खँगार—वह समझता है कि मैंने तुम्हारा वरण करके उसकी नाक काट ली है । अपने अपमान का प्रतिशोध वह इस प्रकार लेना चाहता है । केवल तुम्हें प्राप्त करने के लिए ही वह युद्ध कर रहा है ।

रानकदे—(उत्तेजित होकर) क्या वह यह नहीं जानता कि भारतीय नारी केवल एक का वरण करती है ? क्या वह समझता है कि जूनागढ़ को विजय करके वह जूनागढ़ की राज्य-लक्ष्मी को भी पा लेगा ? एक विवाहित स्त्री के लिए इतना रक्त-पात करना कहाँ का क्षत्रिय-धर्म है ।

खँगार—प्यार अन्धा होता है रेनू !

रानकदे—यह प्यार नहीं प्यास है, उपासना नहीं वासना है ।

खँगार—जयसिंह के लिए इन विरोधी संज्ञाओं में कोई अन्तर नहीं, कोई भेद नहीं ।

रानकदे—इसमें उसका इतना दोष नहीं, जितना उसके संस्कारों का है । माता का प्रभाव सन्तान पर पड़ता ही है ।

[नेपथ्य से कोलाहल का स्वर आता है । कोलाहल बढ़ता जाता है । बाहर से एक सैनिक का प्रवेश । वह दोनों कुमारों को साथ लिए है ।]

सैनिक—(घबराये हुये स्वर में) राना जी, दुर्ग···!

खँगार—(खड़े होकर तीव्र स्वर में) क्या है, कहते क्यों नहीं!

सैनिक—दुर्ग का द्वार किसी ने खोल दिया राना जी ! शत्रु के सैनिक अन्दर आगये हैं ।

खँगार—(बीच में ही) पागल तो नहीं हो गये हो ?

सैनिक—ठीक कह रहा हूँ राना जी ! जयसिंह अपने कुछ सैनिकों के साथ इधर ही आ रहा है ।

ग्वँगार—(तलवार खींचकर) सेनापति कहाँ है ?

सैनिक—(सर झुकाकर) वे दुर्ग-द्वार पर युद्ध करते करते वीर-गति को प्राप्त हो गये राना जी !

ग्वँगार—रेनू ! तुम कुमारों को कक्ष में ही रखना। मैं दुष्ट जयसिंह को रोकता हूँ। चलो, सैनिक !

रानकदे—(रुद्ध स्वर में) नाथ ! आप को रोक कर मैं क्षत्राणी के धर्म से नहीं गिरना चाहती पर·····पर जाने से पूर्व मुझे चरण-रज देते जाइये।

[रानकदे झुककर चरण-स्पर्श करती है। ग्वँगार उसे उठाकर हृदय से लगा लेता है। रानकदे की आँखें सजल हैं पर वह भरसक अश्रु रोकने का प्रयास कर रही है। सैनिक की आँखें नी भर आती हैं। वह सबकी दृष्टि बचाकर अपने आँसू पोंछ लेता है।]

ग्वँगार—(दोनों कुमारों का चुम्बन लेकर) बड़े होकर जयसिंह से लड़ोगे न ?

दोनों कुमार—हाँ, हाँ !

[ग्वँगार रानकदे की ओर देखकर द्वार की ओर बढ़ता है।]

रानकदे—(अवरुद्ध कंठ से) पीठ दिखा कर जा रहे तो लौटकर शीघ्र मुँह भी दिखाना। मैं प्रतीक्षा करूँगी।

ग्वँगार—रेनू ! तुम्हारा प्यार मेरी रक्षा करेगा।

[ग्वँगार और सैनिक तीव्रगति से बाहर चले जाते हैं। कोलाहल बढ़ता जाता है। रानकदे दोनों कुमारों को हृदय से लगाकर पर्यंक पर बैठ जाती है। धैर्य्य का बाँध टूट जाता है और आँखों की गंगा-यमुना उमड़ चलती हैं।]

छोटा कुमार—तुम रोती क्यों हो माँ ?

बड़ा कुमार—तुम्हीं ने तो कहा था कि कायर रोते हैं।

रानकदे—(आँसू पोंछते हुये) नहीं, बेटा नहीं ! मैं रोती कहाँ हूँ ?

छोटा कुमार—अभी तो लो बही थी।

रानकदे—(अपेक्षाकृत संयत स्वर में) अब नहीं रोऊँगी बेटा !

बड़ा कुमार—माँ, पिता जी जयसिंह से लड़ने गये हैं ?

रानकदे—हाँ, बेटा !

छोटा कुमार—कब आयेंगे उछ माल कल ?

रानकदे—आते ही होंगे। तुम भी पिता जी की तरह बहादुर बनोगे बेटा ?

बड़ा कुमार - मैं बनूँगा पिता जी की तरह बहादुर।

छोटा कुमार—मैं भी बनूँगा बहादुल।

रानकदे—(दोनों का चुम्बन लेती हुई) हाँ! दोनों बनना बहादुर। देश के शत्रु का संहार करना, मोरट के मान को बढ़ाना।

[कोलाहल निकट आता है। रानकदे कुमारों के साथ खड़ी हो जाती है। वह द्वार की ओर बढ़ती है। तभी बाहर से जयसिंह आता है। सुन्दर होते हुये भी इस समय वह भयंकर लग रहा है। उसके हाथ में रक्त-रंजित तलवार है। उसे देखकर रानकदे के मुख से हल्की सी चीख़ निकल जाती है। दोनों कुमार रानकदे से चिपट जाते हैं।]

जयसिंह—(गंभीर स्वर में) डर गईं ?

रानकदे—कौन हो तुम ? मेरे कक्ष में इस प्रकार क्यों घुस आये ? मेरे पतिदेव कहाँ हैं ?

जयसिंह—(भयंकर हँसी हँसकर) एक साथ तीन तीन प्रश्न ! मैं जयसिंह हूँ। अब यह दुर्ग मेरा है। तुम्हारे पतिदेव अब इस संसार में नहीं हैं। हाँ, उनका रक्त अवश्य लगा है इस तलवार में ?

[जयसिंह तलवार उठाकर दिखाता है। रानकदे उसकी ओर अपलक दृष्टि से देखती रहती है। उसके मुख से न वाणी निकलती है और न आँखों से आँसू।]

जयसिंह—तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये इस शुभ समाचार से। मैंने तुम्हें उस दुष्ट के बन्धन से मुक्त कर दिया है।

[रानकदे जाकर पर्यंक पर बैठ जाती है। वह जयसिंह की ओर उसी दृष्टि से देखती रहती है।]

बड़ा कुमार—तुम जयसिंह हो। बड़े होकर हम तुमसे लड़ेंगे।

छोटा कुमार—तुम बहुत बुले हो। मैं भी तुमछे लल्लू गा।

जयसिंह—नाग के बच्चे भी विषैले होते हैं। मैं तुम्हें इस योग यहीं

नहीं होने दूँगा कि तुम काट सको। (तीव्र स्वर में) सैनिक!

[दो सैनिक आते हैं। वे क्रूर आकृति के हैं।]

जयसिंह—ले जाओ इन विषैले कीड़ों को और कर दो धड़ से इनके शिर अलग। खँगार का वंश ही मैं नष्ट कर दूँगा।

[सैनिक कुमारों को पकड़ कर बाहर ले जाते हैं। रानकदे रोकने के लिये उठकर दौड़ती है। जयसिंह उसे पकड़ लेता है। बाहर से कुमारों की चीख आती है।]

रानकदे—दुष्ट! उन अबोध बच्चों ने क्या बिगाड़ा था तेरा जो उनकी हत्या करवा दी? हत्यारे, यदि तुझे रक्त की ही प्यास थी तो मेरा शिर काटता।

जयसिंह—(हँसकर) युद्ध और प्यार में सब कुछ उचित है।

रानकदे—तभी तुझे छल से दुर्ग का द्वार खुलवाने में लज्जा न आई। जिसे तू अपनी विजय समझता है वह तेरी पराजय है। इतिहास तुझ पर थूकेगा।

जयसिंह—इतिहास के अक्षर मैं अपनी तलवार की नोक से बदल दूँगा। तुम इसकी चिन्ता न करो। मेरा उद्देश्य पूरा हुआ। आज मैं जूनागढ़ का स्वामी हूँ। अब तुम मेरी हो।

रानकदे—भूलता है तू। जूनागढ़ भले तेरा हो जाये पर मैं उनकी थी और उन्हीं की रहूँगी।

जयसिंह—(रानकदे को छोड़कर) खँगार अब कहाँ? उसके चिन्हों को भी मैंने मिटा दिया केवल इसीलिए कि कहीं युवा होकर वे प्रतिशोध न लें। राजनीति में दूरदर्शिता से काम लेना पड़ता है।

रानकदे—(घृणा से) थू है तेरी राजनीति पर।

जयसिंह—(हँसकर) रुष्ट हो गईं? मैंने तो कुमारोंको यह भूलने के लिये मार्ग से हटाया कि मेरी रानक दो बच्चों की माँ है। मैंने तो तुम्हारा कौमार्य तुम्हें लौटा दिया है। अब तुम अखंड यौवना रहोगी।

रानकदे—(क्रुद्ध स्वर में) नीच, पापी, दुष्ट! धिक्कार है तुझपर। तू ने इसलिये मेरे अबोध कुमारों की नृशंस हत्या की कि मैं अखंड यौवना रहूँ। जा, मैं तुझे श्राप देती हूँ कि तेरी पत्नी सदैव अखंड

यौवना रहेगी, इसका यौवन नष्ट करने के लिये उसकी कोख में कभी कोई पुत्र न आयेगा।

जयसिंह—(हँसकर) श्राप·····श्राप दे रही हो मुझे!

रानकदे—हाँ, श्राप दे रही हूँ। सती का श्राप कभी व्यर्थ नहीं जाता। तू सदैव निपूत रहेगा, पुत्र का मुख देखने के लिए तड़प तड़प कर इस लोक से उठ जायेगा, परलोक में भी तेरी आत्मा को शान्ति नहीं मिलेगी।

जयसिंह—(विनत स्वर में) मेरा लोक-परलोक इन चरणों में है रानक। तुम्हारे प्रेम ने मुझे पागल कर दिया है। उचित-अनुचित का ज्ञान खो बैठा हूँ मैं।

रानकदे—(हँसकर) प्रेम तो अन्धों को आँखें देता है। तुझे अन्धा कर दिया है तेरे स्वार्थ ने, तेरी साम्राज्य-लिप्सा ने।

जयसिंह—रानक! तुम्हारी एक मुस्कान पर मैं शत शत साम्राज्य न्योछावर कर सकता हूँ। वर्षों से तुम्हारे प्यार में तड़प रहा हूँ।

रानकदे—प्यार नहीं, प्यास कह! तुझे प्यास है मेरे यौवन की, तू भूखा है मेरे शरीर का।

जयसिंह—मुझे समझने की चेष्टा करो रानक! तुम्हें कदाचित ज्ञात नहीं कि मैं तुम्हें अपनी बनाना चाहता था, पाटन के सिंहासन पर बिठाना चाहता था पर वह धूर्त खँगार तुम्हारा हरण कर लाया।

रानकदे—(बीच में ही) तू कदाचित इस प्रतीक्षा में था कि तेरी माँ की भाँति मैं भी तेरे पास विवाह का प्रस्ताव लेकर स्वयं आऊँगी।

जयसिंह—मेरी माँ·····?

रानकदे—हाँ, तेरी माँ! क्या तुझे ज्ञात नहीं कि तेरी माँ हाथी पर चढ़कर तेरे पिता के पास विवाह का प्रस्ताव लेकर स्वयं आई थी। वह मोटी और कुरुप थी इसलिये·····।

जयसिंह—(बीच में ही) बस करो, रानक बस करो!

रानकदे—क्यों, और सुनने का क्या साहस नहीं है? असुन्दर होने के कारण तेरे पिता ने प्रस्ताव ठुकरा दिया। तेरी माँ क्रुद्ध हो उठी।

जयसिंह—(तीव्र स्वर में) रानक !

रानकदे—तब उसने धमकी दी कि यदि उससे विवाह नहीं किया जायेगा तो वह आत्म-हत्या कर लेगी। विवश होकर तेरे पिता को विवाह करना पड़ा।

जयसिंह—(कठोर स्वर में) चुप रहो रानक ! अपनी माता के विरुद्ध मैं एक शब्द भी सुनना नहीं चाहता।

रानकदे—पर मुझे इस प्रकार जूनागढ़ नहा जाना पड़ा था। वे स्वयं मेरे द्वार पर आये थे। उन्होंने मेरा हरण नहीं, वरण किया था। तू मेरे पास प्यास लेकर आया है, वे प्यार लेकर आये थे; तू वासना की पूर्ति चाहता है, उन्होंने मेरी उपासना की थी। उनमें और तुझमें आकाश-पाताल का अन्तर है। वे देवता थे और तू·····तू नर-पिशाच है।

जयसिंह—तुम भूलती हो रानक ! खेंगार तुम्हें प्यार नहीं करता था। उसने केवल मेरा अपमान करने के लिए, मृत्यु शैय्या पर पड़े अपने पितामह नवघन को दिये गये वचन की पूर्ति के लिए तुमसे विवाह किया था।

रानकदे—जो भी हो पर उन्होंने मेरे हृदय को बल और छल से नहीं, राग-अनुराग से जीता था।

जयसिंह—उसने तुम्हें भ्रम में डाल दिया था रानक !

रानकदे—मैंने भाँति भाँति से उनकी परीक्षा ले ली थी। जब मैंने उनसे कहा था कि मेरे ग्रह अशुभ हैं इसलिए मुझे पाटन जाने दो जिससे वहाँ महाभाश का तांडव नृत्य हो तो उन्होंने हँसकर कहा था—पाटन का नाश बाद में होगा पहले जूनागढ़ धूल में मिल जायेगा। जान-बूझकर उन्होंने नाश को अपने हृदय से लगाया। मेरे वंश-कुल की चिन्ता किये बिना ही उन्होंने मुझे अपने चरणों में स्थान दिया।

जयसिंह—मैं तुम्हें हृदय में स्थान दूँगा रानक। मेरे प्यार को न ठुकराओ। मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकता।

रानक—मेरे पति का संहार और मेरे बच्चों का बध करके मुझसे

प्रणय-याचना करते तुझे लज्जा नहीं आती ?

जयसिंह—इन वाक्य-शरों से मेरे हृदय को न बेधो रानक ! मैं तुम्हें हृदेश्वरी बनाना चाहता हूँ। पाटन का सिंहासन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

रानकदे—(गर्व से शिर उठाकर) अब चिता ही मेरा सिंहासन है। मुझे अपने पति के साथ अग्नि शैय्या पर अनन्त-निद्रा में निमग्न हो जाने दे। मैं तेरे समस्त अपराध क्षमा कर दूँगी।

जयसिंह—मुझे क्षमा नहीं, प्रणय चाहिये। मेरी भुजायें तुम्हें आलिंगन में कसने के लिए वर्षों से व्याकुल हैं, मेरे अधर सुधा-पान के लिए तड़प रहे है। आओ, मेरे समीप आओ ! मेरे प्राणों की तृषा दूर करके मुझे नव जीवन दो।

[जयसिंह रानकदे को आलिंगन में कसने के लिए आगे बढ़ता है। वह पीछे हट जाती है।]

रानकदे—(क्रुद्ध स्वर में) अपने अपावन स्पर्श से मुझे कलुषित करने का अक्षम्य अपराध न कर कामी !

जयसिंह—(तीव्र स्वर में) तुमने मेरी याचना को ठुकरा दिया अब मेरा क्रोध भी देखो।

रानकदे—एक अबला पर शक्ति-प्रयोग करेगा ?

जयसिंह—क्यों नही ! आज मैं तुम्हें प्राप्त करके ही रहूँगा। वर्षों का श्रम व्यर्थ न जाने दूँगा। देखता हूँ तुम्हें मेरे पंजे से कौन बचाता है !

[जयसिंह पागलों की भाँति रानकदे को पकड़ने के लिए दौड़ता है। वह बचने की चेष्टा करती है। बाहर से नंगी तलवार लिए जगद्देव आता है।]

जगद्देव—सावधान ! सती का अपमान करने का दुस्साहस न करना महाराज !

जयसिंह—(क्रोधपूर्ण तीव्र स्वर में) तुम यहाँ क्यों आये जगद्देव ? निकल जाओ यहाँ से ! अन्यथा·····!

जगद्देव—(बीच में ही) क्या होगा ? मेरा शिर धड़ से पृथक कर दिया जायेगा यही न ! कर दीजिये। पर जब तक मैं जीवित हूँ तब तक

सती रानकदे को कोई छू भी नहीं सकता।

जयसिंह—मैं भी नहीं ?

जगद्देव—आप भी नहीं महाराज !

जयसिंह—जगद्देव ! तुम राज-द्रोह कर रहे हो।

जगद्देव—यदि यही राज-द्रोह है तो मैं दंड के लिए सहर्ष प्रस्तुत हूँ। महाराज, आप कामान्ध हो रहे हैं। अब भी समय है। सती का अपमान करके आप के भागी न बनिये।

जयसिंह—लगता है मैंने तुम्हें समझने में भूल की। यदि मैं यह जानता कि तुम मेरे कार्य में इस प्रकार बाधा डालोगे तो तुम्हें मालवा से पाटन न लाता और तुम्हारे साथ भी अन्य युद्धबन्दियों की भाँति ही कठोर व्यवहार करता।

जगद्देव—महाराज, अपराध क्षमा हो। यदि मुझे आप के इस रूप का तनिक भी आभास होता तो मैं आप के साथ कदापि न आता। मालवा की पवित्र रज में मिल जाना इस दास-कर्म से कहीं अच्छा था।

जयसिंह—तुम मेरे दास नहीं, सखा हो।

जगद्देव—इसी लिये तो मैं आप का पतन नहीं देख सकता। यह लीजिये तलवार और पहले मेरा शिर धड़ से अलग कर दीजिये।

[रानकदे कभी जयसिंह और कभी जगद्देव की ओर देखती है। जगद्देव जयसिंह की ओर तलवार बढ़ाता है।]

रानकदे—मेरे अपरिचित भाई ! क्यों मुझ अभागिन के लिए अपना जीवन गँवा रहे हो ?

जगद्देव—बहन ! ऐसी मृत्यु पाकर मैं अमर हो जाऊँगा। स्वर्ग के देवता भी मेरे भाग्य से ईर्ष्या करेंगे। (जयसिंह की ओर मुड़कर) लीजिये महाराज, तलवार और अपने मार्ग के कंटक को दूर कर दीजिये।

[जयसिंह तलवार ले लेता है। रानकदे जगद्देव और जयसिंह के बीच में आ जाती है।]

रानकदे—इस पवित्र तलवार को क्यों अपवित्र करते हो। जिस तलवार से मेरे पति का बध किया है उसी से मेरा भी उद्धार कर दो।

[जयसिंह तलवार फेंककर रानक के चरणों पर झुकना चाहता है। वह पीछे हट जाती है। जगद्देव आश्चर्य से देखने लगता है।]

जयसिंह—भाई जगद्देव तुमने एक दानव को मनुष्य बना दिया। मैं आभारी हूँ। मैं·····(गला रुँध जाता है।) मैं इस योग्य भी नहीं हूँ कि सती से क्षमा माँग सकूँ।

[जयसिंह तीव्र गति से बाहर चला जाता है।

जयसिंह—(बाहर से) मै चन्दन-चिता की व्यवस्था करता हूँ जगद्देव!

रानकदे—भाई, आज तुमने मेरी लाज बचा ली।

जगद्देव—सती की रक्षा भगवान करता है बहन। मैं तो निमित्त मात्र था। चलो, स्नानादि करके दिव्य-लोक के प्रस्थान की तैयारी करो। अग्नि-रथ की व्यवस्था हो रही है।

रानकदे—मेरे अहो भाग्य भाई।

[दोनों द्वार की ओर बढ़ते हैं। धीरे धीरे यवनिका गिरती है।]

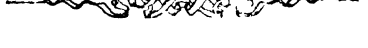

आकाश-पाताल

ग़ोरी ने छल से उच्च का दुर्ग अवश्य जीत लिया
पर क्या वह बल से शालिनी का
हृदय जीत सका ?

❀

माता और पुत्री में आकाश-पाताल का अन्तर था
ग़ोरी ने कदाचित शालिनी को भी
रानी सा ही समझा होगा ।

—पात्र तथा स्थान—

रानी—उच्च के दुर्गाधिपति की पत्नी ।
सुमेरराज—उच्च का दुर्गाधिपति ।
शालिनी—सुमेरराज की पुत्री ।
शेरसिंह—उच्च का सेनापति ।
मुहम्मद गोरी—मुसलमान आक्रमणकारी ।
सैनिक, दास दासी आदि ।
स्थान—उच्च के दुर्ग का एक प्रकोष्ठ ।
समय—रात्रि का प्रथम प्रहर ।

[प्रकोष्ठ सजा हुआ है। फर्श पर कीमती कालीन बिछा है और बैठने के लिये कई छोटी छोटी चौकियाँ पड़ी हैं। सामने की चौकी अपेक्षाकृत बड़ी है। प्रकोष्ठ में रत्न-जटित दीप जल रहे हैं जिनके प्रकाश से कक्ष जगमगा रहा है। चिन्तित मुद्रा में सुमेरराज टहल रहे हैं। वे अधेड़ अवस्था के हैं। दाहिने द्वार से दास का प्रवेश]

दास—(झुक कर अभिवादन करता हुआ) सेनापति शेरसिंह जी उपस्थित होना चाहते हैं, महाराज!

[सुमेरराज स्वीकृति सूचक सर हिला देते हैं। दास चला जाता है और एक क्षण बाद ही शेरसिंह आता है। वह अस्त्र-शस्त्र धारण किये है। आयु लगभग ३० वर्ष है। उसकी कठोर आकृति तथा मुख पर के घावों के चिन्ह उसकी युद्ध-प्रियता तथा वीरता के द्योतक हैं।]

सुमेरराज—(चिन्तित स्वर में) सब व्यवस्था ठीक है ?

शेरसिंह—जी हाँ ! यद्यपि गोरी की सेना संख्या में हमसे कहीं अधिक है फिर भी हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। दुर्ग के द्वार पर मैंने विश्वस्त सैनिक नियुक्त कर दिये हैं। मैं स्वयं रात भर निरीक्षण करता रहूँगा।

सुमेरराज—(बड़ी चौकी पर बैठते हुये) ठीक है। हमें अपने ही पैरों पर खड़ा होना है। दूसरों से सहायता की आशा करना व्यर्थ है।

शेरसिंह—(छोटी चौकी पर बैठ कर) आप ठीक कह रहे हैं। यदि हममें एकता होती और यदि हम पारस्परिक सहयोग के साथ शत्रु का सामना करते तो आज देश की यह दशा न होती। यहाँ तो बस अपनी अपनी ढपली और अपना अपना राग है।

सुमेरराज—यही तो दुख का विषय है। शेरसिंह, तुम उच्च के सेनापति हो। दुर्ग की रक्षा का भार तुम पर है। क्या...क्या मैं तुम्हारी खंग पर विश्वास कर सकता हूँ ?

शेरसिंह—(खड़ा होकर म्यान से खंग निकालता है और फिर उसे ऊपर उठाते हुये कहता है।) जब तक इस हाथ में खंग है महाराज, तब तक शत्रु के अपावन चरण दुर्ग की पवित्र रज को कलुषित न कर सकेंगे।

सुमेरराज—मुझे विश्वास है तुम पर। किन्तु...!

[सुमेरराज की बात अधूरी रह जाती है। कक्ष में रानी का प्रवेश। वह सुन्दर है। शेरसिंह आदर से सर झुकाता है। रानी सुमेरराज के पास बैठ जाती है। शेरसिंह भी खंग म्यान में रख कर बैठ जाता है।]

रानी—युद्ध का क्या समाचार है सेनापति ?

शेरसिंह—शत्रु-सेना दुर्ग को घेरे पड़ी है। कदाचित वह आक्रमण की योजनायें बना रही है।

रानी—रक्षा की क्या व्यवस्था है ?

सुमेरराज—तुम चिन्ता न करो रानी ! हमने सब प्रबन्ध कर लिया है। शत्रु हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। वर्षा काल निकट है।

यदि दस-बीस दिन हम डटे रहे तो वर्षा में शत्रु-सेना नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी और.....!

रानी—(बीच में ही) तब तो शीघ्र ही आक्रमण होगा।

सुमेरराज—युद्ध में बाहरी शत्रु से इतना भय नहीं होता रानी, जितना घर के भेदिये से। इधर कुछ दिनों से मुझे सन्देह.....।

शेरसिंह—(उत्सुकता से) क्या सन्देह हो रहा है आपको ?

सुमेरराज—यही कि हमारे बीच में कोई शत्रु का भेदिया है। हमारी गुप्त से गुप्त योजनायें गोरी को विदित हो जाती हैं।

रानी—यह तो बहुत बुरा है। आपने पता लगाने की चेष्टा की ?

सुमेरराज—कर रहा हूँ, पर कुछ पता नहीं लगता। किस पर विश्वास करूँ और किस पर अविश्वास, कुछ समझ में नहीं आता। सच तो यह है कि मुझे स्वयं अपने ऊपर ही विश्वास नहीं रहा है!

शेरसिंह—आप चिन्ता न करें महाराज! मैं दो एक दिन में उस भेदिये का सर इन चरणों में ला दूँगा! काश! आपने पहले कुछ संकेत किया होता...!

सुमेरराज – कई बार सोचा, पर मौन रहा। शेरसिंह, यवनों का इतिहास छल-छद्म की कहानी है। युद्ध में असफल होकर कूटनीति का आश्रय लेना उनके लिये कठिन नही है। मुझे भय है कि...!

शेरसिंह—महाराज...!

सुमेरराज—मुझे भय है शेरसिंह कि कहीं उन्हें पराजित करने में भी यही मार्ग न अपनाया जाये।

शेरसिंह—आपका भय निर्मूल नहीं है महाराज! हमें अत्यन्त सावधान रहना चाहिये!

रानी—अवश्य! हाँ, सेनापति, गुप्त द्वार की रक्षा का भी प्रबंध कर दिया है आपने ?

शेरसिंह– (हँस कर) उसकी क्या आवश्यकता है ? दुर्ग के गुप्त द्वार का भेद हम तीनों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। यदि हम वहाँ सैनिकों की नियुक्ति करते हैं तो भेद खुल जायेगा और शत्रु का दिया इस ज्ञान से अनुचित लाभ उठा लेगा।

रानी—विचार तो ठीक है। परन्तु.....।

[बीच मे ही सुमेरराज उठ खड़े होते हैं। रानी और शेरसिंह भी खड़े हो जाते हैं।]

सुमेरराज—वैद्यराज ने मुझे अधिक न जागने का परामर्श दिया है। मैं जा रहा हूँ शयन करने। शेरसिंह, तुम सावधान रहना। आज की रात .! ओह! न जाने क्यों हृदय काँपा जा रहा है।

शेरसिंह—आप विश्राम करें। मैं सजग रहूँगा।

सुमेरराज—तुम अभी विश्राम न करोगी रानी?

रानी—आप जायें! मैं सेनापति के साथ कुछ परामर्श करूँगी।

[सुमेरराज हँस कर चले जाते है। रानी बड़ी और शेरसिंह छोटी चौकी पर बैठ जाते हैं।]

रानी—दो एक दिन में शत्रु के भेदिये का सर महाराज के चरणों में डालने का प्रण पूरा कर सकोगे सेनापति?

शेरसिंह—क्यों नहीं?

रानी—(हँस कर) चाहे वह उच्चाधिकारी क्यों न हो?

शेरसिंह—तब तो उसका अपराध भी महान हो जायेगा।

रानी—(सहास्य) बहुत साहसी और स्वामिभक्त हो सेनापति। निकालो अपना खंग और काट लो मेरा सर! मैं ही तुम्हारी अपराधिनी हूँ।

शेरसिंह—(हँस कर) आप परिहास कर रही हैं महारानी!

रानी—(उठ कर टहलते हुये) मैं सत्य कह रही हूँ सेनापति!

शेरसिंह—(उठ कर) महारानी...?

रानी—(हँस कर) हमें तुम्हारे जैसे स्वामिभक्तों की आवश्यकता है सेनापति। मैं महत्वाकाँक्षिनी हूँ। सभी को होना चाहिये। क्या तुम महत्वाकाँक्षी नहीं हो सेनापति?

शेरसिंह—महारानी! मैं...मैं...

रानी—(बीच में उसकी ओर प्रेम-दृष्टि से देखती हुई) मैं तुम्हारी उन्नति चाहती हूँ। सेनापति के पद पर ही सन्तुष्ट रहना मूर्खता है। मेरी सहायता करो और स्वर्ण तथा सुन्दरी तुम्हारे चरणों पर

लोटेगी। अच्छा, क्या तुम दुर्गपति बनना नहीं चाहते ?

शेरसिंह—बहुत हो चुका महारानी ! मैं आपकी परिहास-प्रियता की प्रशंसा करता हूँ; पर...पर यह परिहास का समय नहीं है।

रानी—स्वामी की सेवा करते करते तुम पूरे सेवक बन गये हो। मैं तुम्हें स्वामी बनाना चाहती हूँ। उच्च के दुर्ग को तुम्हारे जैसे योद्धा की आवश्यकता है। वैद्यराज की औषधियों के बल पर जीवित रहने वाले व्यक्ति के दुर्बल हाथों में शासन-भार सँभालने की शक्ति कहाँ ?

शेरसिंह—(तीव्र स्वर में) मैं महाराज के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं सुन सकता। मेरा कार्य...।

रानी—(बीच में ही) अपने को पहचानो शेरसिंह ! (आगे बढ़ कर उसके समीप आते हुये) मेरी सहायता करने में तुम्हें घाटा नहीं रहेगा। गोरी को मेरी सहायता प्राप्त है। तुम्हारी सहायता के बिना भी मेरा काम चल जायेगा, पर मैं...मैं...!

शेरसिंह—(आवेश से) मुझसे विश्वासघात न हो सकेगा महारानी ! मुझे जाने की आज्ञा दें।

[शेरसिंह द्वार की ओर बढ़ता है। रानी हँसती है। द्वार से कई सैनिक आकर शेरसिंह को घेर लेते हैं। वह म्यान से खंग निकालना चाहता है पर सैनिक उसे निरस्त्र कर देते हैं। वह घृणा से महारानी की ओर देखता है। रानी हँसती है।]

रानी—देखा मेरा बल ? तुम्हारे सैनिक ही तुम्हारे विरुद्ध हैं। बोलो, मेरी सहायता करके दुर्ग के स्वामी बनना चाहते हो या कुत्तों की मौत मरना चाहते हो ? महाराज को यह समझाना कि तुम्हीं शत्रु के भेदिये थे कुछ कठिन न होगा। वे तुम्हारी मृत्यु से हर्षित ही होंगे।

[शेरसिंह सर झुकाये खड़ा रहता है।]

रानी—सोच लो। एक ओर स्वर्ण है, वैभव है, राज्य है और दूसरी ओर अपयश है, यंत्रणा है, मृत्यु है।

शेरसिंह—(सर उठा कर) मैं एकान्त में उत्तर दूँगा।

[रानी के संकेत से सब सैनिक बाहर चले जाते हैं। रानी अपने स्थान पर बैठ जाती है। शेरसिंह भी बैठता है।]

शेरसिंह—(मन्द स्वर में) आप जीतीं और मैं हारा। मैं आपका सेवक हूँ। मुझे क्या करना होगा ?

रानी—मेरे साथ विश्वासघात करके तुम जीवित नहीं रह सकते। इसलिये यदि किसी छल का आश्रय लेने का विचार हो तो उसे हृदय से निकाल दो। मेरा साथ दो, जो मैं कहूँ सो करो और बदले में तुम्हें दुर्ग मिलेगा, धन मिलेगा राज्य मिलेगा और...

शेरसिंह—और...?

रानी—और यदि चाहो तो रानी भी मिल सकती है।

[शेरसिंह रानी की ओर देखता है। रानी की आँखों में मादक मुस्कान है। उसकी मुद्रायें मिटने का निमन्त्रण दे रही हैं।]

शेरसिंह—बिना रानी के राज्य किस काम का ?

रानी—(हँस कर) तब मैं भी तुम्हारी हूँ। रुको, पर अभी नहीं। अभी तो मैं किसी और की पत्नी हूँ। पहले मुझे इस बन्धन से मुक्त करो।

शेरसिंह—क्या...?

रानी—हाँ ! (कंचुकी से विषाक्त कटार निकाल कर) यह लो मेरी कटार। महाराज का शयन-कक्ष तो तुम जानते ही हो।

शेरसिंह—(पीछे हट कर) नहीं, यह कुत्सित कार्य मुझसे नहीं हो सकेगा। मैं सैनिक हूँ। किसी सोते हुये व्यक्ति की हत्या.....! ओह ! नहीं...नहीं...!

रानी—(गंभीरता से) यह मेरी कटार है शेर ! तुम्हारा खंग तो शुद्ध ही रहेगा। शीघ्रता करो। विलम्ब होने से काम बिगड़ जायेगा।

शेरसिंह—(कटार लेकर) पर...!

रानी—शीघ्र जाओ। गोरी के आने का समय हो रहा है। उसके आने के पूर्व दुर्ग का शासन तुम्हारे हाथों में आ जाना चाहिये।

शेरसिंह—(आश्चर्य से) गोरी...?

रानी—हाँ, गोरी। मैं गुप्त द्वार खोल दूँगी। गोरी दुर्ग में प्रविष्ट होकर तुम्हें दुर्गपति बनायेगा और ।

शेरसिंह—और...?

रानी—और शालिनी से विवाह करके उसे अपने साथ ले जायेगा। मेरी बेटी गोरी की पत्नी बनेगी! जाओ, अब देर न करो।

शेरसिंह—(शंका से) कहीं वह अपना वचन भूल न जाये?

रानी—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। एक एक पल बहुमूल्य है। जाओ! शयन-कक्ष के रक्षक तुम्हें नहीं रोकेंगे। वे मेरे सहायक हैं।

[शेरसिंह बाहर चला जाता है। उसके जाते ही दूसरा सैनिक अन्दर आता है। रानी उसे शेरसिंह के पीछे जाने का संकेत करती है। वह तीव्रगति से चला जाता है। बायीं ओर के द्वार से शालिनी आती है। वह यौवन तथा सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा है।]

शालिनी—(आश्चर्य से.) आप अभी तक अपने शयन-कक्ष में नहीं गईं माता जी? पिता जी कहाँ हैं?

रानी—(व्यग्रता से) वे अपने कक्ष में हैं। सेनापति शेरसिंह उनसे परामर्श करने गये हैं। मैं उन्हीं की प्रतीक्षा कर रही हूँ। क्या तुम अभी तक नहीं सोईं?

शालिनी—नहीं, माता जी! आज जैसे निद्रा रूठ गई है।

रानी—यह लक्षण अच्छे नहीं। जाओ अपने कक्ष में!

[शालिनी जाने के लिये मुड़ती है। तभी नेपथ्य से एक चीख आती है। फिर निस्तब्धता छा जाती है! शालिनी घबरा कर रानी की ओर देखने लगती है। हाथ में रक्त-रंजित कटार लिये शेरसिंह का प्रवेश। उसकी भयंकर वेष-भूषा देख कर शालिनी के मुख से धीमी सी चीख निकल जाती है।]

शेरसिंह—सम्पूर्ण कार्य निर्विघ्न समाप्त हो गया महारानी! महाराज अब अनन्त निद्रा में निमग्न हैं।

शालिनी—(चीख कर) विश्वासघाती! हत्यारे! नीच...।

[नङ्गी तलवारें लिये आठ-दस सैनिकों का प्रवेश।]

रानी—(भयंकर स्वर में) बन्दी बना लो महाराज के हत्यारे को!

[सैनिक झपट कर शेरसिंह को बन्दी बना लेते हैं।]

शेरसिंह—यह विश्वासघात कैसा?

रानी—(हँस कर) विश्वासघात? तू क्या दुर्गाधिपति बनने के

स्वप्न देखने लगा था ? मूर्ख ! मेरी महत्वाकाँक्षा की एक सीढ़ी मात्र था तू !

शेरसिंह—इस छल का बदला अवश्य मिलेगा। (छुड़ाने की चेष्टा करते हुये) छोड़ दो मुझे। इस विश्वासघातिनी और देशद्रोहिनी का गला इन्हीं हाथों से घोट कर ही मैं शान्ति से मर सकूँगा।

रानी—(तीव्रता से) ले जाओ इसे और फेंक दो दुर्ग से नीचे।

[छः सैनिक उसे ले जाते हैं। रानी शालिनी का हाथ पकड़ कर बड़ी चौकी पर अपने ही साथ बिठा लेती है। दो क्षण बाद नेपथ्य से एक चीख आती है। फिर शान्ति छा जाती है।]

रानी—गुप्त द्वार खोल दिया है ?

एक सैनिक—जी हाँ ! कुछ सैनिक वहीं खड़े हैं।

रानी—ठीक है। मण्डप इत्यादि बन गया है ?

सैनिक—जी हाँ !

रानी—जाओ और स्वर्गीय महाराज की अन्तिम क्रिया का प्रबंध करो। किसी को उनकी मृत्यु का वास्तविक कारण ज्ञात न हो। किसी भी दशा में वैद्यराज उनके पास न जाने पायें।

[सैनिक सर झुका कर चले जाते हैं।]

शालिनी—मैं स्वप्न देख रही हूँ या जागती हूँ माँ ?

रानी—(मृदु स्वर में) तू जाग रही है बेटी ! तेरे ही सुख और भविष्य के लिये मैं यह सब कर रही हूँ।

शालिनी—मेरा भविष्य ?

रानी—हाँ। अब तू मुहम्मद गोरी जैसे साहसी और वीर पुरुष की पत्नी बनेगी। गोरी ने तुझसे विवाह करने का वचन दिया है !

शालिनी—वचन...?

रानी—हाँ, बेटी। इसी सौदे पर ही तो मैं तैयार हुई थी। दुर्ग का गुप्त-द्वार भी खोल दिया और महाराज को भी मार्ग से हटा दिया।

शालिनी—(उठ कर) मैं जन्म लेते ही मर क्यों न गई ? आपने मेरे लिये—केवल इसलिये कि मैं गोरी की दासी बन सकूँ—इतना मँहगा सौदा किया ! देश के साथ द्रोह, पति की हत्या, शेरसिंह के साथ

विश्वासघात। आपको माता कहने में भी मुझे लज्जा आती है।

रानी—यह क्या कह रही है तू ?

शालिनी—ठीक कह रही हूँ। क्या आप समझती हैं कि मैं गोरी से विवाह कर लूँगी ? कदापि नहीं। इससे पूर्व कि उसका स्पर्श मुझे अपावन करे मैं.....!

[कक्ष में गोरी का प्रवेश। उसके साथ दस-बारह यवन सैनिक हैं।]

मुहम्मद गोरी—शुक्रिया रानी साहिबा ! किला अब हमारा है। हमारा परचम लहरा रहा है बुलन्द मीनार पर। (शालिनी की ओर देख कर) तो यह है हसीन छोकरी ! बहुत खूब ! ज़मीन पर गोया चाँद उतर आया है।

रानी—(आदर से) इस प्रशंसा के लिये धन्यवाद। मण्डप तैयार है। चलिये शीघ्र विवाह हो जाये।

मुहम्मद गोरी—(हँस कर) बहुत भोली हो तुम ! क्या तुमने यक़ीन कर लिया था कि मैं तुम्हारी दुख्तर से शादी कर लूँगा। तोबा, तोबा ! एक काफ़िर लड़की से शादी !

रानी—(घबराकर) ऐसी हँसी ठीक नहीं! मैंने अपना वचन पूरा कर दिया। अब आपकी बारी है।

मुहम्मद गोरी—करूँगा, ज़रूर करूँगा। यह नाज़नीन मुझे पसन्द है। (कठोर स्वर में) पर मैं इसे मल्का नहीं, बाँदी बनाऊँगा। यह मेरे हरम में रहेगी !

रानी—(क्रुद्ध स्वर में) विश्वासघाती ! कुत्सित ! नीच !

मुहम्मद गोरी—(हँस कर) मैं गालियों का बुरा नहीं मानता। (एक सैनिक की ओर मुड़ कर) इन्हें क़ैद कर लो।

[दो सैनिक रानी को बन्दी बना लेते हैं।]

मुहम्मद गोरी—(शालिनी से) चलो जानेमन ! आज की फ़तह-याबी की खुशी में मेरी आग़ोश तुम्ही आबाद करो !

शालिनी—(भयंकर स्वर में) चुप रह कुत्ते ! मैं भारतीय नारी हूँ। मुझे अबला न समझ ! मुझे छूने से पहले तू भस्म हो जायेगा।

मुहम्मद गोरी—गुस्सा तुम्हारे हुस्न में चार चाँद लगा देता है। मुझे तेज़ लड़कियाँ ही पसन्द हैं।

शालिनी—अभी तेज़ी कहाँ देखी है तूने। यदि साहस है तो आगे बढ़ कर देख!

मुहम्मद गोरी—(हँस कर) खूब, बहुत खूब! अब समझा। माँ के सामने शर्म आती है। (सैनिकों से) ले जाओ इसकी माँ को।

[रानी चीखती-चिल्लाती है पर सैनिक उसे पकड़ कर बलपूर्वक बाहर ले जाते हैं। गोरी के संकेत से अन्य सैनिक भी चले जाते हैं।]

मुहम्मद गोरी—(आगे बढ़ कर) अब हम तनहा हैं। आओ, और अपनी नाजुक बाहें मेरे गले में डाल दो, अपने ओठों की शराब से मुझे मदहोश कर दो।

शालिनी—तू भूलता है। ये बाहें तेरे लिये फाँसी का फन्दा हैं, ये अधर विषाक्त हैं।

मुहम्मद गोरी—मैं थका सिपाही हूँ। नाज़-नख़रे उठाने की ताब नहीं। आओ, आगे बढ़ो!

[गोरी शालिनी को पकड़ने के लिये आगे बढ़ता है। शालिनी पीछे हट कर कटि में छिपी हुई छोटी सी कटार निकाल लेती है।)

मुहम्मद गोरी—इसकी क्या ज़रूरत है? मुझे मारने के लिये तो तीरे-नज़र ही काफ़ी हैं।

शालिनी—तेरे कलुषित रक्त से मैं अपनी पवित्र कटार अपवित्र न करूँगी। तू स्वयं ही कुत्ते की मौत मरेगा।

मुहम्मद गोरी—बातूनी छोकरी! मेरे मज़े को न बिगाड़।

[गोरी शालिनी को पकड़ने के लिये भूखे भेड़िये के समान झपटता है। वह बच कर बड़ी चौकी पर चढ़ जाती है और विद्युत-वेग से कटार अपने सीने में भोंक लेती है। रक्त की धारा बह चलती है और उसका निर्जीव शरीर चौकी पर गिर जाता है। कटार छूट कर दूर गिरती है। गोरी झिझक कर रुक जाता है। फिर वह आगे बढ़ कर शालिनी की नाड़ी देखता है। एक क्षण बाद वह उसके अंचल से उसका मुख ढँकता है। धीरे धीरे यवनिका गिरती है।]

—: सोहाग रात :—

उसकी सोहाग रात शयन-कक्ष में नहीं,
अग्नि-शैय्या पर हुई
क्योंकि यदि प्यार को उसका जीवन प्रिय था तो
कर्त्तव्य को उसकी मृत्यु।

पात्र तथा स्थान

वीरमती—देवगिरि के स्वर्गीय सेनापति की पुत्री ।
गौरी—देवगिरि की राजकुमारी ।
कृष्णराव—एक मराठा सरदार; वीरमती का भावी पति ।
रामचन्द्रदेव—देवगिरि नरेश ।
रानी—रामचन्द्रदेव की पत्नी; गौरी की माता ।
दास दासी आदि ।

स्थान—देवगिरि के राज प्रासाद का एक प्रकोष्ठ ।
समय—१२९४ ई० की एक सन्ध्या ।

[प्रकोष्ठ वर्गाकार है। पीछे एक खिड़की है जिसपर जालीदार बहुमूल्य पर्दा पड़ा हुआ है जो कभी कभी पवन के झकोरों में उड़ जाता है और बाहर का रक्ताभ आकाश दिखाई देने लगता है। दाहिनी ओर एक द्वार है जो खुला हुआ है। मध्य में एक रजत-पर्यंक पड़ा है जिस पर बहुमूल्य रेशमी बिस्तर बिछा है। एक कोने में वीणा रक्खी है। द्वार के सामने की दीवार पर भगवान कृष्ण का चित्र है। खिड़की के ऊपर एक वृद्ध व्यक्ति का चित्र है। द्वार के ऊपर भगवान राम का और खिड़की के सामने की भीति पर रामचन्द्रदेव तथा रानी के चित्र हैं। भगवान भास्कर की अन्तिम किरणें खिड़की से आकर देवगिरि नरेश तथा उसकी पत्नी के चित्रों पर पड़ रही हैं। प्रकोष्ठ में पूर्णतया शान्ति है। एक अष्टदश वर्षीया कुमारी खिड़की के समीप खड़ी होकर दूर के लहलहाते हुये खेतों की ओर एक टक देख रही है। उसकी काली लम्बी वेणी पतली कटि पर झूलती हुई नितम्बों के नीचे तक चली गई है। इस युवती का नाम वीरमती है। खुले द्वार से राजकुमारी गौरी का प्रवेश। वह वीरमती की समवयस्का है और सुन्दर भी उसी के समान है।]

गौरी—आज उदास क्यों हो दीदी ! पिता जी याद आ रहे हैं !

वीरमती—(घूमकर) कौन गौरी ? नहीं ! महाराज और महारानी के अतुल स्नेह को पाकर मैं अपने माता पिता को भूल सी गई हूँ। मुझे

स्वप्न में भी यह विचार नहीं आता कि उनके अतिरिक्त मेरे कोई अन्य माता पिता भी थे।

गौरी—(हँसकर) अच्छा! तो तुम्हें अपने पिता का ध्यान कभी नहीं आता?

वीरमती—आये भी क्यों गौरी? जब दो वर्ष की थी तभी माता चल बसीं और १ वर्ष के पश्चात ही पिता जी भी अनन्त निद्रा में निमग्न हो गये। तब से यहीं, तुम्हारे इस राज-प्रासाद में ही रह रही हूँ। तुम्हीं को अपनी बहन, महाराज को पिता और महारानी को ही माता समझा है। जैसा अपनत्व मुझे तुम लोगों से मिला वैसा तो अपने सगे सम्बन्धियों से भी किसी को न मिलता होगा। महाराज और महारानी की दृष्टि में हम दोनों समान हैं। मुझ में और तुम में कभी कोई अन्तर नहीं देखा उन्होंने। तुम मुझे दीदी कहती हो और एक राजकुमारी के सदृश ही समस्त सुख-साधन मुझे प्राप्त हैं। फिर—

गौरी—(बीच में ही टोक कर) फिर इस उदासी का कारण? अच्छा समझ गई। जीजा जी की याद आ रही है?

वीरमती—(लजाकर) धुत पगली। याद तो उसकी आती है जो अपने से दूर हो। वे तो मेरे रोम रोम में बसे हैं।

गौरी—फिर भी दीदी अब कब तक इस प्रकार चकोरी के समान दूर रहेंगी अपने चन्द्र से! मैं आज ही कहूँगी पिता जी से कि अब शीघ्र से शीघ्र यह विवाह हो जाना चाहिये।

वीरमती—तुम्हें कहाँ से आगईं ये बातें? किसी महादेव से तो नहीं शिक्षा लेने लगी हो?

गौरी—महादेव नहीं दीदी, कृष्णराव कहो। यह नाम लेते हुये क्या लज्जा आती है?

वीरमती—अपने प्राण प्रिय प्राणेश्वर का नाम लेने में किस बात की लज्जा पगली! पर मैं तो तुम्हारे विषय में कह रही थी।

गौरी—मेरे विषय में? मैं तो नित्य ही प्रातःकाल उठकर भगवान विष्णु से प्रार्थना करती हूँ कि जल्द ही मेरी दीदी का विवाह हो, मैं उनका श्रृंगारकरूँ, तारों से माँग भरके उन्हें रति से भी अधिक सुन्दर

बना दूँ। और फिर प्रथम मिलन की रात आये और.....!

वीरमती—बस, बस रहने दो! मालूम होता है तुम्हारा मस्तिष्क फिर गया है तभी ऐसी बहकी बहकी बातें कर रही हो। माता जी से मुझे कहना ही पड़ेगा अब!

गौरी—(घबरा कर) क्या?

वीरमती—(बनावटी गंभीरता से) कि गौरी के लिए किसी योग्यवर की खोज करनी चाहिए।

[लज्जा की लाली गौरी के गोरे गालों पर फिर जाती है। वह आँखें झुका लेती है। कुछ उत्तर नहीं देती।]

वीरमती—(हँसकर) लजा गई पगली! अच्छा छोड़ो इन बातों को! गौरी! आज दोपहर से ही न जाने क्यों मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। किसी अज्ञात शंका से बार बार काँप उठती हूँ। भय की भावना हृदय में भरी जा रही है।

गौरी—(घबराकर) क्यों? स्वास्थ्य तो ठीक है दीदी?

वीरमती—अस्वस्थ मैं नहीं हूँ गौरी! पर फिर भी न जाने क्यों हृदय बैठा सा जा रहा है। कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

गौरी—तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है दीदी।

[पर्यंक पर दोनों बैठ जाती हैं।]

वीरमती—विश्राम कहाँ? गति का नाम ही जीवन है।

गौरी—तुम सचमुच अस्वस्थ हो। गीत सुनाऊँ?

वीरमती—सुनाओ! अपना वही प्रिय गीत सुनाओ गौरी! कदाचित उसी से कुछ शान्ति मिले।

[गौरी वीणा लेकर फर्श पर बिछे बहुमूल्य कालीन पर बैठ जाती है। तभी एक दासी आकर प्रकोष्ठ के दीप जला जाती है। गौरी की चपल उंगलियाँ तारों पर नृत्य करने लगती हैं।]

लेकर आई साँझ उदासी!
हृदय-भवन में बसा कौन यह मनहर मौन प्रवासी?
किसकी सुधि का चुभा तीर यह?
क्यों सखि जागी सुप्त पीर यह?

भर भर आये नयन, प्राण में कैसी उठी व्यथा सी ?
तारों के मिस अम्बर रोया;
अवनी ने जीवन-धन खोया;
विरह-ज्वाल में भस्म हुये जाते हैं मन के वासी !

[संगीत रुक जाता है। वीरमती एक गहरा निश्वास छोड़ती है। गौरी उठकर वीणा उसी कोने में रख देती है। खुले द्वार से सैनिक वेश में एक नवयुवक का प्रवेश। अवस्था लगभग २५ वर्ष; साँवला रंग; भव्य मुख पर सुन्दर दाढ़ी, यह मराठा सरदार कृष्ण राव है।]

गौरी—(कृष्णराव को आते देखकर) अब मैं चली दीदी, माता जी याद कर रही होंगी।

[कृष्णराव पर एक सस्मित दृष्टि डालती हुई गौरी उसी द्वार से चली जाती है। वीरमती खिड़की के समीप जाकर खड़ी हो जाती है।]

कृष्णराव—वीरू ! क्या रुष्ट हो आज अपने इस कृष्ण पर ?

[वीरमती न तो बोलती है और न उसकी ओर मुख ही करती है। कृष्णराव उसके समीप जाकर उसका मुख अपनी ओर करता है। उसकी चिबुक ऊपर उठाते हुये उसकी आंखों में अपनी आँखें डाल देता है।]

कृष्णराव—प्रिये ! इधर देखो, इन आँखो में देखो ! आज प्रातः काल से ये तुम्हारे दर्शन के लिए असहाय मीन की भाँति तरस रही हैं और तुम—तुम अब मान कर रही हो ! हँसो ! एक बार मुस्कादो ! रूप सरोवर में अपने युग-दृग-कमल विकसित हो जाने दो।

वीरमती—(उदास स्वर में) आज तक जानती थी कि आप युद्ध कला में निपुण हैं पर आज विदित हुआ कि असत्य-भाषण में भी आप समान ही पटु हैं।

कृष्णराव—असत्य भाषण ? यह तुम क्या कह रही हो वीरू ?

वीरमती—यदि प्रातःकाल से ही आपकी आँखें मेरे दर्शन के लिए व्याकुल होतीं तो यह जानते हुए भी कि आपको बिना देखे मैं क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकती आज दिन भर आप मुझे भयंकर मृत्यु-यंत्रणा सहने के लिए इस प्रकार न छोड़ देते।

कृष्णराव—(हँसकर) समझा ! तो यह है तुम्हारे मान का कारण ?

पर वीरू ! तुम नहीं जानतीं आज दिन भर मैं कितना व्यस्त रहा !

वीरमती—आपकी यह व्यस्तता किसी दिन मेरे प्राण ही ले लेगी। दो माह से आप इसी प्रकार व्यस्त हैं। पहले तो यवन अलाउद्दीन के आक्रमण रोकने में व्यस्त थे आप, पर अब किस कार्य ने आपको मेरे पास तक न आने को विवश कर दिया है ?

कृष्णराव—कारण अभी बदला नहीं है वीरू।

वीरमती—यह क्या कह रहे हैं आप ? अभी एक सप्ताह पूर्व ही तो हमारी यवनों से सन्धि हुई है और चार दिन हुये यवन-सेना वापस भी लौट गई है। कल रात को ही तो देश में विजय-जयन्ती मनाई गई थी, गृह-गृह दीप जले थे, द्वार-द्वार पर बन्दनवार सजाये गये थे, आँगन आँगन में मंगल-गान हुये थे।

कृष्णराव—आज दोपहर तक हमारा यही विश्वास था कि यवन-सेना चली गई है पर आज ही गुप्तचरों ने समाचार दिया है कि वह केवल एक छल था। हमें भुलावे में डालने के लिए यवन-सेना यहाँ से चली अवश्य गई थी पर अब गुप्त रूप से वह पुनः समीप के बन में आगई है और आक्रमण की योजनायें बना रही है।

वीरमती—यह तो भारी धोखा है, विश्वासघात है।

कृष्णराव—इस समाचार से हम सभी चिन्तित हो उठे हैं। सभा-भवन में अभी एक गुप्त मंत्रणा हुई थी। महाराज ने इस समाचार की सत्यता का निश्चय करने की मुझे आज्ञा दी है।

वीरमती—आप यह कार्य.....!

कृष्णराव—(बीच में ही रोककर) इस कार्य के लिए मुझे अभी गुप्त रूप से उस बन में जाना है। मैं बिदा लेने आया हूँ वीरू।

वीरमती—(घबराकर) पर यह कार्य तो भयंकर है। अकेले ही...!

कृष्णराव—चिन्ता न करो वीरू। तुम्हारा स्नेह मेरी रक्षा करेगा। कार्य कठिन अवश्य है, पर देश और जन्मभूमि के लिए.....!

वीरमती—यह प्रस्ताव आपका था या महाराज ने आज्ञा दी है ?

कृष्णराव—मैंने स्वयं इस कार्य को करने का बीड़ा उठाया है।

वीरमती—(कम्पित स्वर में) यदि महाराज ने आज्ञा दी होती तो

उनसे विनती करके मैं इस आज्ञा को रद्द करवा देती। पर अब क्या होगा! मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है।

[वीरमती अपना सिर कृष्णराव के वक्ष पर टिका देती है। कृष्णराव उसके सिर पर अपना हाथ स्नेह से फेरता है।]

कृष्णराव—एक वीर क्षत्राणी को यह कातरता शोभा नहीं देती वारू। उत्तरा ने भी अभिमन्यु को विदा दी थी। और फिर मैं किसी द्रोण का चक्रव्यूह भग करने तो जा नहीं रहा हूँ जो तुम इतनी व्याकुल हो रही हो।

वीरमती—(सिर उठाकर अश्रुपूर्ण नयनों से) मैं अपना कर्तव्य जानती हूँ नाथ! पर फिर भी अदृश्य अनिष्ट की भावना से बार बार मैं काँप उठती हूँ। क्या किसी प्रकार आज यह कार्य स्थगित नहीं किया जा सकता? आप कल जा सकते हैं।

कृष्णराव—एक क्षण का विलम्ब भी देश के लिए कितना भारी पड़ेगा इसका अनुमान कदाचित तुम्हें नहीं है वरू। परमात्मा के लिए अब देर न करो, स्मित पूर्ण नयनों से मुझे विदा दो।

वीरमती—जब रुक नहीं सकते तब रोकने का असफल प्रयत्न भी मैं न करूँगी। जाइये। परमात्मा आपकी रक्षा करे। आप अपने कार्य में सफल होकर शीघ्र ही इन नयनों को कृतार्थ करें। (स्वर काँप जाता है)

[कृष्णराव वीरमती को अपनी भुजाओं में कस लेता है और उसके मुख को चूमकर विद्युत-वेग से चला जाता है। नेपथ्य से घोड़े की टाप सुनाई देती है। टापों का स्वर धीमा होता हुआ एक दम विलीन हो जाता है। वीरमती सहसा जैसे चौंक पड़ती है। अपने तकिये के नीचे से एक कटार निकाल कर उसे खोलती है और दीप के प्रकाश में उसकी धार की परख करती है। फिर उसे म्यान में रखकर अपनी कटि में खोंस लेती है और तीव्र गति से वह भी बाहर चली जाती है। बाहर फिर घोड़े की टापों का स्वर आता है जो मन्द होता हुआ एक दम विलीन हो जाता है। तभी बाहर से 'वीरा' 'वीरा' कहते हुए महाराज रामचन्द्र देव सपत्नीक आते हैं। दोनों बहुमूल्य वस्त्र तथा आभूषणों से सज्जित हैं। रामचन्द्रदेव की अवस्था लगभग ४० वर्ष और महारानी की उनसे ५

वर्ष कम है।]

रामचन्द्रदेव—यहाँ तो है नहीं वीरा!

रानी—गौरी के पास होगी। आप विराजिये। इस नवीन समाचार ने तो आपको व्याकुल सा कर दिया है।

रामचन्द्रदेव—हाँ रानी! हम क्षत्रिय युद्ध से नहीं डरते। मृत्यु हमारी सहचरी है। पर इस प्रकार विश्वासघात की आशा.....!

[बीच में ही रामचन्द्रदेव का हाथ पकड़ कर रानी उन्हें पर्यंक पर बिठाते हुये स्वयं भी बैठ जाती है।]

रानी—इन यवनों से और किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जा सकती है नाथ! छल, प्रपंच, विश्वासघात तो जैसे इनके जातीय गुण हैं।

रामचन्द्रदेव—यदि यवन युद्ध ही चाहते थे तो क्या हम उन्हें देते नहीं? सन्धि करके इस प्रकार छल करने से उनका क्या प्रयोजन है?

रानी—प्रयोजन? एक स्वतंत्र राष्ट्र-रमणी के मुक्ति-सुहाग को लूटने से बढ़कर उनके लिए और क्या पुन्य कार्य हो सकता है? और यह अलाउद्दीन? इसकी गति विधि को तो देखकर ऐसा भास होता है कि अब उसका चाचा जलाल अधिक दिनों तक देहली के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता। यदि वह उसकी हत्या करके सिंहासनारूढ़ हो जाये तो मुझे कुछ भी आश्चर्य नहीं होगा।

रामचन्द्रदेव—तुम्हारा अनुमान सत्य है रानी। अलाउद्दीन जैसे नृशंस और छली व्यक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

रानी—कुमार शंकर राव भी यहाँ नहीं है। वह होता तो अलाउद्दीन को इस छल का मज़ा मिल जाता।

रामचन्द्रदेव—देवगिरि के अतुल वैभव और यहाँ की समृद्धि ने उसे अन्धा कर दिया है। वह हमारी सम्पदा लूटना चाहता है। कुशल हुई कि हमें समय पर सूचना मिल गई। कृष्णराव पता लगाने गया है।

रानी—जब तक देवगिरि में कृष्णराव जैसे स्वामिभक्त और स्वदेश-प्रेमी वीर हैं तब तक इस स्वर्णभूमि पर शत्रुओं के अपावन चरण नहीं पड़ सकते।

रामचन्द्रदेव—जिस समय हम सब किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठे थे तब कृष्णराव ने स्वयं जाकर समाचार की सत्यता का पता लगाने का बीड़ा उठाया। उसकी प्रतिज्ञा से हम सन्तुष्ट हुये। हमें उसकी वीरता, निपुणता, और देश भक्ति पर विश्वास है। वह अवश्य अपने कार्य में सफल होगा।

रानी—भगवान उसके सहायक हों। उसके समान विश्वस्त सरदार अपने यहाँ विरले ही हैं। एक बार चाहे मुझे अपने पर अविश्वास हो जाये पर उस पर अविश्वास मैं नहीं कर सकती।

रामचन्द्रदेव—तुम में मनुष्य को परखने की शक्ति है रानी ! तुम्हारे विचार जानकर मुझे प्रसन्नता हुई।

['दीदी' 'दीदी' कहती हुई गौरी आती है। वीरमती के स्थान पर माता—पिता को पाकर चकित रह जाती है।]

गौरी—(आदर भाव से) प्रणाम पिता जी। प्रणाम माता जी।

रामचन्द्रदेव—प्रसन्न रहो बेटी। पर वीरा कहाँ है ? मैं तो समझता था कि वह तुम्हारे साथ होगी।

गौरी—मैं तो दीदी को यहीं छोड़ गयी थी पिता जी। कृष्णराव जी आये थे। मैं अपने प्रकोष्ठ में चली गई। अब जब आई तो दीदी के स्थान पर आप लोगों को पाया। आप जब यहाँ आईं तब क्या दीदी नहीं थीं माता जी ?

रानी—नहीं बेटी ! पर कहाँ हो सकती है ?

[तीनों चिन्तित हो उठते हैं। सहसा दूर से घोड़े की टाप का स्वर आता है। स्वर क्रमशः समीप आता जाता है और फिर थम जाता है।]

रामचन्द्रदेव—(खड़े होकर) विदित होता है कृष्णराव आगया।

[रामचन्द्रदेव द्वार की ओर बढ़ते हैं। उसी समय अस्त-व्यस्त वेश में वीरमती आती है। उस के बाल खुले हैं, पसीना बह रहा है, साँस तीव्र गति से चल रही है, वस्त्रों पर रक्त के दाग़ हैं, श्वेत माँग भी शोणित की लाली से कुछ लाल हो गई है।]

रामचन्द्रदेव—(घबरा कर) कुशल तो है बेटी ?

वीरमती—कुशल कहाँ पिता जी ? यवन-सेना निकट के वन में आक्रमण की योजना बना रही है। शीघ्र ही आक्रमण होगा।

रामचन्द्रदेव—(चिन्तित स्वर में) हूँ ! पर कृष्ण कहाँ है ? तुम कहाँ थीं ?

वीरमती—वे आरहे हैं। मैं उन्हीं के पीछे पीछे गई थी।

[द्वार से कुछ दास आते हैं। वे कृष्णराव के मृत शरीर को उठाये हैं।]

रामचन्द्रदेव—हैं, यह क्या है ? किस ने की इनकी यह दशा ! क्या यवनों ने यह दुस्साहस किया है ?

[वीरमती मौन रहती है। दास कृष्णराव के शरीर को फर्श पर रखकर बाहर चले जाते हैं। गौरी पर्यंक की चादर से शरीर को ढक देती है।]

रानी—बताओ बेटी, किस दुष्ट ने कृष्ण की हत्या की है ?

वीरमती—मैंने.....!

[रानी और गौरी के मुख से चीख निकल जाती है।]

रामचन्द्रदेव—(चकित स्वर में) यह क्या कह रही हो तुम ? कृष्ण की मृत्यु ने क्या तुम्हें पागल कर दिया है ? संयत होकर शीघ्र बताओ, कृष्ण की हत्या कैसे हुई ?

वीरमती—(गंभीर वाणी में) पिता जी ! मैं पागल नहीं हूँ। मैं ही हूँ वह हत्यारिनी ! शत्रु का भेद लेने के लिए जब यह गये तो इनकी रक्षा के विचार से मैं भी पीछे पीछे चली गई। किन्तु..... किन्तु मुझे क्या पता था कि जिस की रक्षा के लिए मैं जारही हूँ उसी का वध करना पड़ेगा।

रामचन्द्रदेव—मेरी समझ में तो कुछ नहीं आता। बेटी तुमने अपने भावी पति तथा स्वदेश प्रेमी वीर का वध क्यों किया ?

वीरमती—ये मेरे भावी पति अवश्य थे पर स्वदेश प्रेमी और वीर नहीं। उन्होंने आप के साथ, जाति के साथ, देश के साथ विश्वास-घात किया। यवनों को दुर्ग के गुप्त मार्ग बताने गये थे यह ! सोने के चन्द टुकड़ों पर इन्होंने अपनी आत्मा को बेच दिया था। ऐसे पतित, देश-द्रोही और विश्वास घाती को जीने का अधिकार नहीं था।

रानी—बेटी.....!

वीरमती—हाँ माता जी, जिस यवन को इन्होंने भेद दिये थे उसकी हत्या करने के बाद मैंने पावन जन्म-भूमि के भाल से इस कलंक को

रामचन्द्रदेव—जिस समय हम सब किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठे थे तब कृष्णराव ने स्वयं जाकर समाचार की सत्यता का पता लगाने का बीड़ा उठाया। उसकी प्रतिज्ञा से हम सन्तुष्ट हुये। हमें उसकी वीरता, निपुणता, और देश भक्ति पर विश्वास है। वह अवश्य अपने कार्य में सफल होगा।

रानी—भगवान उसके सहायक हों। उसके समान विश्वस्त सरदार अपने यहाँ विरले ही हैं। एक बार चाहे मुझे अपने पर अविश्वास हो जाये पर उस पर अविश्वास मैं नहीं कर सकती।

रामचन्द्रदेव—तुम में मनुष्य को परखने की शक्ति है रानी ! तुम्हारे विचार जानकर मुझे प्रसन्नता हुई।

['दीदी' 'दीदी' कहती हुई गौरी आती है। वीरमती के स्थान पर माता—पिता को पाकर चकित रह जाती है।]

गौरी—(आदर भाव से) प्रणाम पिता जी। प्रणाम माता जी।

रामचन्द्रदेव—प्रसन्न रहो बेटी। पर वीरा कहाँ है ? मैं तो समझता था कि वह तुम्हारे साथ होगी।

गौरी—मैं तो दीदी को यहीं छोड़ गयी थी पिता जी। कृष्णराव जी आये थे। मैं अपने प्रकोष्ठ में चली गई। अब जब आई तो दीदी के स्थान पर आप लोगों को पाया। आप जब यहाँ आईं तब क्या दीदी नहीं थीं माता जी ?

रानी—नहीं बेटी ! पर कहाँ हो सकती है ?

[तीनों चिन्तित हो उठते हैं। सहसा दूर से घोड़े की टाप का स्वर आता है। स्वर क्रमशः समीप आता जाता है और फिर थम जाता है।]

रामचन्द्रदेव—(खड़े होकर) विदित होता है कृष्णराव आगया।

[रामचन्द्रदेव द्वार की ओर बढ़ते हैं। उसी समय अस्त-व्यस्त वेश में वीरमती आती है। उस के बाल खुले हैं, पसीना बह रहा है, साँस तीव्र गति से चल रही है, वस्त्रों पर रक्त के दाग़ हैं, श्वेत माँग भी शोणित की लाली से कुछ लाल हो गई है।]

रामचन्द्रदेव—(घबरा कर) कुशल तो है बेटी ?

वीरमती—कुशल कहाँ पिता जी ? यवन-सेना निकट के वन में आक्रमण की योजना बना रही है। शीघ्र ही आक्रमण होगा।

रामचन्द्रदेव—(चिन्तित स्वर में) हूँ ! पर कृष्ण कहाँ है ? तुम कहाँ थीं ?

वीरमती—वे आरहे हैं। मैं उन्हीं के पीछे पीछे गई थी।

[द्वार से कुछ दास आते हैं। वे कृष्णराव के मृत शरीर को उठाये हैं।]

रामचन्द्रदेव—हैं, यह क्या है ? किस ने की इनकी यह दशा ? क्या यवनों ने यह दुस्साहस किया है ?

[वीरमती मौन रहती है। दास कृष्णराव के शरीर को फर्श पर रखकर बाहर चले जाते हैं। गौरी पर्यंक की चादर से शरीर को ढक देती है।]

रानी—बताओ बेटी, किस दुष्ट ने कृष्ण की हत्या की है ?

वीरमती—मैंने.....!

[रानी और गौरी के मुख से चीख निकल जाती है।]

रामचन्द्रदेव—(चकित स्वर में) यह क्या कह रही हो तुम ? कृष्ण की मृत्यु ने क्या तुम्हें पागल कर दिया है ? संयत होकर शीघ्र बताओ, कृष्ण की हत्या कैसे हुई ?

वीरमती—(गंभीर वाणी में) पिता जी ! मैं पागल नहीं हूँ। मैं ही हूँ वह हत्यारिनी ! शत्रु का भेद लेने के लिए जब यह गये तो इनकी रक्षा के विचार से मैं भी पीछे पीछे चली गई। किन्तु..... किन्तु मुझे क्या पता था कि जिस की रक्षा के लिए मैं जारही हूँ उसी का बध करना पड़ेगा।

रामचन्द्रदेव—मेरी समझ में तो कुछ नहीं आता। बेटी तुमने अपने भावी पति तथा स्वदेश प्रेमी वीर का बध क्यों किया ?

वीरमती—ये मेरे भावी पति अवश्य थे पर स्वदेश प्रेमी और वीर नहीं। उन्होंने आप के साथ, जाति के साथ, देश के साथ विश्वास-घात किया। यवनों को दुर्ग के गुप्त मार्ग बताने गये थे यह ! सोने के चन्द टुकड़ों पर इन्होंने अपनी आत्मा को बेच दिया था। ऐसे पतित, देश-द्रोही और विश्वास घाती को जीने का अधिकार नहीं था।

रानी—बेटी.....!

वीरमती—हाँ माता जी, जिस यवन को इन्होंने भेद दिये थे उसकी हत्या करने के बाद मैंने पावन जन्म-भूमि के भाल से इस कलंक को

भी सदा के लिए मिटा दिया ! पहले मैं देश-भक्त हूँ, बाद में पत्नी ! यदि प्यार को इनका जीवन प्रिय था तो कर्तव्य को मृत्यु ! मैंने अपने कर्तव्य-पालन में कोई भूल तो नहीं की माता जी !

रानी—(रुद्ध स्वर में) बेटी ! काश, तुमने मेरी कोख से जन्म लिया होता.....!

रामचन्द्रदेव—बेटी ! मैं धन्य हूँ ! (उनका गला भी भर आता है।) रानी ! मैं जा कर सेनापति को बुलवाता हूँ । तुम कृष्ण की अन्तिम क्रिया का प्रबन्ध करना ।

[रामचन्द्रदेव चले जाते हैं ।]

वीरमती—माता जी ! एक क्षत्राणी ने अपना धर्म निभा दिया । अब एक प्रेमिका को अपना कर्त्तव्य पूरा करना है । शीघ्र एक चिता का प्रबन्ध करा दीजिये ।

गौरी—(करुण स्वर में) दीदी !

वीरमती—(हँसकर) तुम्हीं ने तो कहा था गौरी कि तुम मेरा श्रंगार करोगी, तारों से माँग भरोगी, मुझे दुलहन बनाओगी । आओ, करो मेरा श्रंगार, बनाओ मुझे दुलहन ! प्रिय के रक्त से माँग तो भर ही चुकी हूँ ! अब वेदी पर जाना है ।

रानी—(अवरुद्ध कंठ से) बेटी ! धीरज धरो ! अपने को संयत करो !

वीरमती—मैं ठीक कहती हूँ माता जी ! आज मेरी सोहाग रात है । अपनी बेटी को आशीर्वाद दो माँ !

[रानी और गौरी सिसकने लगती हैं । नेपथ्य से करुण संगीत उठता है । वीरमती शून्य दृष्टि से अपने पिता के चित्र की ओर देख रही है ।]

वीरमती—रोकर मुझे विदा दे रही हो ? हँसकर विदा दो । मुझे शीघ्र तैयार करो गौरी ! अग्नि-शैय्या पर आज मेरा अपने प्रिय से प्रथम मिलन होगा । आज मेरी सोहाग रात है न !

[रानी झपट कर वीरमती को हृदय से लगा लेती है । करुण संगीत और भी करुण हो जाता है । गौरी फूट फूट कर रोने लगती है । धीरे धीरे यवनिका गिरती है ।]

सौन्दर्य का प्रायश्चित

प्यार के पंक से कलुषित
सौन्दर्य को रक्त की धारा ही पवित्र कर सकती है।
सौन्दर्य का यही प्रायश्चित है।

पात्र तथा स्थान

विद्युत—चित्तौर के एक सरदार की पुत्री तथा समर की वाग्दत्ता।

चम्पा—समर की बहन तथा विद्युत की सहेली।

समर—एक वीर सैनिक तथा विद्युत का एक प्रेमी।
सैनिक इत्यादि.....।

स्थान—चित्तौर के सुदृढ़ दुर्ग के पूर्वीय कोने में एक उपवन।

समय—सन्ध्याकाल।

[सूर्यास्त होने में अधिक विलम्ब नहीं है। आकाश की लाली प्रति पल बढ़ती जा रही है। अपने नीड़ों को लौटते हुये पंछियों का कलगान स्पष्ट कर्णगोचर हो रहा है। दूर से चरवाहे की बंशी का मृदु स्वर जादू सा भर रहा है। उपवन में भाँति भाँति के फूल खिले हैं। स्थान स्थान पर विश्राम के हेतु स्फटिक शिलायें पड़ी हैं। मध्य में ही एक सुन्दर छोटा सा सरोवर है। उसी के किनारे एक स्वच्छ शुभ्र शिला पर दो तरुण कुमारियाँ बैठी हैं। दोनों ही सौन्दर्य की पुतली सी विदित हो रही है। दोनों के वस्त्र बहुमूल्य तथा सुन्दर हैं। एक के उन्नत वक्ष पर हीरकहार झूल रहा है और दूसरी की गोरी गोल ग्रीवा में मोतियों का माल नृत्य कर रहा है। हीरक हार वाली युवती की अवस्था लग भग १८ वर्ष की है और उस के पैर सरोवर के स्वच्छ जल में डूबे हुये हैं। दूसरी की अवस्था लग भग २ वर्ष अधिक है और उसके सीधे हाथ में एक गुलाब का फूल है जिसे वह ध्यान पूर्वक देख रही है। प्रथम चित्तौर के एक सरदार की पुत्री विद्युत और दूसरी उसकी सहेली तथा उसके भावी पति समरसिंह की एकमात्र बहन चम्पा है। विद्युत के नयनों में खंजन की चंचलता तथा मृगी का भोलापन है। उसकी मुक्त अलकावली कटि तक झूल रही है। आँखों में काजल की पतली रेखा, मस्तक पर छोटी सी बिन्दी और पतली नाक में एक हीरे की कील है। काले कुन्तल-घन में स्वर्णगा स, श्वेत माँग उसके कौमार्य की साक्षी है। वह एक टक सरोवर के शान्त सलिल को देख रही है]

चम्पा—(हाथ के फूल को सरोवर में फेंकते हुए) क्या देख रही हो विद्युत ?

विद्युत—(चौंक कर) क्या ? कुछ नहीं। पर तुमने यह फूल क्यों फेंक दिया ?

चम्पा—(हंस कर) उसके अतुल सौंदर्य को देख रही थी कि सहसा उसके सहवासी शूल का ध्यान आगया। डर गई और उसे सरोवर में फेंक दिया।

विद्युत—(सहास्य) बस ! शूल के ध्यान मात्र से ही भयभीत हो गई ! यदि जीवन में शूल से ही अंचल उलझ गया तो...?

चम्पा—क्यों अपने मन के भाव इस प्रकार प्रकट कर रही हो विद्युत ? पर डरो मत ! मेरा भाई फूल से भी कोमल और...

विद्युत—(लजाते हुये) बड़े भाई की बड़ी बहन ! क्यों बात को उड़ा रही हो ? वे तो फूल से हैं, पर अपने मदलोभी मधुप के विषय में भी तो कुछ कहो।

चम्पा—कुछ हो तब तो कहूँ बहन ! मेरे पास मधुप का क्या काम ? वह तो तुम्हारे द्वार के ही चक्कर लगाता है। कब तक निठुर बनी रहोगी ? रस की एक बूँद दे दो न बिचारे को !

विद्युत—तुम्हारे अनन्त रूप की प्रखर किरणों से अपनी रक्षा करने के लिये ही तो मधुप पास नहीं आता तुम्हारे। चम्पा ! मेरी सखी !! सच कहो, किस भाग्य-शाली को अपना हृदय-हार अर्पित किया है तुमने ?

चम्पा—(हँसकर) अभी तो किसी को नहीं। पर जब करूंगी तो तुम्हें अवश्य सूचित कर दूंगी। विश्वास रक्खो। हाँ ! (बात बदलते हुये) युद्ध का कुछ समाचार प्राप्त हुआ ?

विद्युत—(चिन्तित मुद्रा में) अलाउद्दीन की सेना कोट को घेरे पड़ी है। विजय-पराजय परमात्मा के हाथ में है।

चम्पा—यह निगोड़ा अलाउद्दीन भी इसी समय आने को था ! तुम्हारे बिना अब मुझे अपना ही गृह भला नहीं लगता। और भैया, वे तो दिन रात तुम्हारे ही ध्यान में डूबे रहते हैं। कब आओगी भाभी

बनकर ? मेरा आँगन तुम्हारे नूपुरों की मादक रुनझुन की प्रतीक्षा कर रहा है।

विद्युत—(सलज्ज हास से) अच्छा ? पहले क्यों नहीं कहा ? चलो अभी चलती हूँ।

चम्पा—(गम्भीर स्वर में) इस बात को हँसी में मत टालो विद्युत ! देश पर आपत्ति के घन छाये हैं। यवन नगर को घेरे पड़े हैं। भैया समर हमारी सेना का संचालन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में उनका जीवन.....। तुम तो जानती हो विद्युत, कि राजपूत का जीवन सदा उसकी हथेली पर रहता है। युद्ध कब तक समाप्त होगा ? कुछ कहा नहीं जा सकता। सच ! तुम्हीं कहो !! ऐसी स्थिति में क्या यह उचित नहीं है कि शीघ्र से शीघ्र विवाह हो जाये ?

विद्युत—(क्षण भर सोचती रहती है। फिर धीमे गम्भीर स्वर में कहती है) बहन चम्पा ! मैं सब कुछ समझ रही हूँ। जब देश पर शत्रु की सेना चढ़ आई हो, जब रणचंडी का भयंकर नृत्य हो रहा हो, जब भैरवी के जाग्रत स्वर नभमंडल में घोर रव भर रहे हों और जब महानाश की भीषण ज्वाला धधक रही हो तब एक सच्चे राजपूत का स्थान युद्ध भूमि में है, विवाह वेदी पर नहीं। तुम भी क्षत्राणी हो चम्पा। तुम्हारे मुख से ऐसे शब्द शोभा नहीं देते। जब तक देश की सीमा में एक भी यवन रहेगा तब तक यह विवाह नहीं हो सकता। यह मेरा दृढ़ तथा अन्तिम निश्चय है।

चम्पा—ऐसा न कहो विद्युत ! इतनी कठोर न बनो ! मैं जानती हूँ कि तुम्हारे बिना भैया कितने व्याकुल रहते हैं। तुम उनकी भुजाओं की शक्ति हो। जानती हो हम युद्ध पर युद्ध क्यों हार रहे हैं ? तुम्हारा अभाव भैया को खाये जा रहा है, तुम्हारी सुधि के तीर यवनों के अस्त्रों से कहीं अधिक विषाक्त और तीखे प्रमाणित हो रहे हैं विद्युत !

विद्युत—यह तो और भी लज्जा की बात है चम्पा ! कहना अपने भाई से कि विद्युत तो जीवन भर साथ रहेगी पर देश की मर्यादा यदि एक बार भी चली गई तो अनर्थ हो जायगा।

चम्पा—(उदास होकर) क्षमा करना विद्युत ! मैं समझती थी

तुम्हें भी उनसे उतना ही प्यार है जितना वे तुमसे करते हैं। मुझे यह विदित न था कि तुम स्त्री होकर भी इतनी कठोर और निष्ठुर हो।

विद्युत—(व्याकुलता से) ये वाक्य शर न छोड़ो चम्पा! हृदय के सुप्त तारों को न छेड़ो, इस प्रकार मर्म स्थान पर आघात न करो! तुम्हें मैं कैसे बताऊँ कि मैं उन्हें कितना प्यार करती हूँ (गम्भीर होकर धीरे धीरे) जीवन में यदि मैंने किसी को प्यार किया या कभी किसी को अपना समझा तो बस तुम्हारे भाई को। जब से होश संभाला तभी से उन्हें अपने समीपतम पाया है। बचपन में हम दोनों चाँदनी रात में इसी उपवन के फूलों के साथ साथ खेले हैं! न जाने कितनी तारों भरी रातों में हम दोनों एक दूसरे की आँखों में आँखें डाले इसी शिला पर बैठे रहे हैं। न जाने कितने पुण्य प्रभातों ने हम दोनों को यहीं तितलियाँ पकड़ते देखा है। यहीं हम दोनों ने न जाने कितने घरौंदे बनाकर मिटा दिये हैं। बचपन की आँखमिचौनी के उन्हीं खेलों में मैं उन्हें अपना बना चुकी हूँ। पहले खेल में राजा रानी बने थे, आज प्रत्यक्ष में यही लालसा है! चम्पा! बचपन के उन खेलों को मैं खेल कैसे कहूँ जिन्होंने मेरी जवान रातों में चार चाँद लगा दिये हैं। आज तुम कहती हो चम्पा कि मैं उन्हें प्यार नहीं करती? तुम आज मेरे प्रेम की मात्रा जानना चाहती हो। अरे! तो इन गुलाबों से पूछो, उस चाँद से पूछो, उन तारों से पूछो, इस शिला से पूछो इस धूल से पूछो! (आवेश के कारण विद्युत कांपने लगती है।)

चम्पा—यह मैं सब जानती हूँ बहन! पर आज की परिस्थिति...!

विद्युत—वह भी सुनो चम्पा! मैं क्षत्राणी हूँ। एक बार जीवन का मोल कर चुकी। जिऊँगी तो उनके साथ, मरूंगी तो उनके साथ। संसार की कोई भी शक्ति मुझे उनसे विलग नहीं कर सकती। यही मेरा.....

[सहसा दूर पर शोर होता है। दुन्दभी बज उठती है। विद्युत और चम्पा चकित होकर खड़ी हो जाती हैं। उपवन के उत्तरी भाग से समर आता है। सैनिक वेश में २५ वर्ष का स्वस्थ राजपूत अत्यन्त सुन्दर लग रहा है।]

समर—(घबराये हुये स्वर में) कौन चम्पा ? शीघ्रता करो ! यवनों ने आक्रमण कर दिया है। जाओ ! तुम तुरन्त ही महल में चली जाओ।

[चम्पा तीव्र गति से चली जाती है]

समर—और तुम विद्युत ! तुम भी शीघ्रता करो। पिछले द्वार पर अश्व प्रस्तुत है।

विद्युत—अश्व ! हमें कहां चलना है समर ?

समर—कहीं भी। इस विपत्ति से दूर हम कहीं भी चले चलेंगे।

विद्युत—मैं तुम्हारा तात्पर्य समझी नहीं समर।

समर—अलाउद्दीन ने दुर्ग पर आक्रमण कर दिया है विद्युत। नगर-कोट चारो ओर से घिर गया है। उद्धार होना कठिन है। यवनों की विशाल सेना के सागर में हमारे सीमित सैनिक असहाय तिनकों की भाँति बह जायेंगे। किसी भी क्षण द्वार टूट सकता है। चलो ! शीघ्रता करो। अधिक समय नहीं है !

विद्युत—तुम्हारा आशय कदाचित् यह है कि हम यहाँ से भाग कर किसी अन्य स्थान को चले चलें ?

समर—हाँ। अब देर न करो, नहीं तो फिर निकलना कठिन हो जायेगा।

विद्युत—एक राजपूत को प्राणों का मोह !

समर—मुझे अपने नहीं, तुम्हारे प्राणों की चिन्ता है विद्युत।

विद्युत—तुम कहते हो भाग चलें। पर नगर वासियों को इस विपत्ति में छोड़कर ? जन्मभूमि को शत्रुओं के अपावन पैरों से दलित होते छोड़कर ? क्या यही हमारा क्षात्र धर्म है ? यही हमारी पुरातन गुरुता है ?

समर—तर्क न करो प्रिये ! जान बूझ कर मृत्यु की गोद में कूदना वीरता नहीं है। हमारी पराजय निश्चित है। ऐसी दशा में यहाँ रहकर प्राणों की आहुति देकर हम कोई बुद्धिमानी का कार्य न करेंगे। अब विलम्ब न करो प्रिये। लोग हमारी प्रतीक्षा में होंगे।

विद्युत—(दृढ़ स्वर में) मैं नहीं जाऊंगी। यदि तुम्हें अपने प्राणों

का भय है तो जा सकते हो।

समर—लेकिन क्यों ? मुझे समझने का प्रयत्न करो विद्युत ! मैं यह सब कर रहा हूँ, किसके लिये ? जब तुम्हीं मेरा साथ न दोगी तो फिर मैं किस पर विश्वास करूं ? (शोर और बढ़ जाता है) सुनो ! वे आ रहे हैं ? देर न करो अब। कहीं दूर चलकर विश्व के एकान्त कोने में प्रेम की वंशी बजायेंगे, मुक्त विहग की भाँति स्वच्छ नीलाकाश में उड़ेंगे.....कोई हमें छू तक नहीं सकेगा।

विद्युत—चुप रहो समर ! तुम चुप रहो !! रण—बेला में शृङ्गार का गीत न गाओ गायक। आज तो भैरव के स्वर छेड़ो। तुम शंकर बनकर नृत्य करो और मैं काली बनकर संहार करूं। जाओ। क्षणिक आवेश में, प्रेम की झिलमिल झाँकी में कर्त्तव्य को न भूलो। एक सच्चे नायक की भाँति सेना का नेतृत्व करो।

समर—उसका समय अब नहीं रहा विद्युत। आज तक तुमने मेरा अनुरोध नहीं टाला है। उसी अधिकार के नाते आज एक और बिनती स्वीकार कर लो। यहाँ से चली चलो।

विद्युत—मुझे लज्जित न करो नाथ। तुम्हारे प्रत्येक शब्द को मैं आज्ञा की भाँति मानती हूँ। पर यह जघन्य कृत्य मुझसे नहीं हो सकेगा। प्रियतम ! आँखें खोलो। यदि आप आज कर्त्तव्य से विमुख हो गये तो इतिहास पुकार पुकार कर कहेगा कि प्रेम में अन्धा होकर एक राजपूत देश-द्रोही बन गया। देश-द्रोही ? हाँ ! मैं इसे देश के प्रति विश्वासघात ही कहूँगी। याद करो अपने पूर्वजों के प्रबल पराक्रम को, उनके शौर्य को, साहस को, धैर्य को। और उन्हीं के वंशज तुम यहाँ एक नारी से विवाद कर रहे हो और वहाँ सहस्त्रों वीर अपनी जन्म-भूमि की रक्षा के हेतु प्राणों की बाजी लगा रहे हैं। आश्चर्य है कि शस्त्रों की झनकार सुनकर तुम्हारी भुजायें नहीं फड़कतीं, तुम्हारी खंग म्यान से बाहर नहीं निकल आती। धिक्कार है तुम्हें। उतार डालो अपने ये सैनिक वस्त्र और पहन लो ये चूड़ियाँ। मुझे दो अपनी तलवार और देखो कि समय पड़ने पर एक राजपूतनी भी क्या कर सकती है।

[विद्युत अपनी चूड़ियाँ उतारने लगती है। समर उसका हाथ

पकड़ कर खींचना चाहता है ।]

समर—नहीं चलोगी ? तो क्या मैं यह समझलूं कि यह सब छल था, धोखा था ? क्या बीती बातों को भूल जाऊँ ? चांदनी रातों के तरानों को स्वप्न समझूं ? सत्य है । जिसे आज तक अमृत समझता था वही विष निकला । भूल ! भयंकर भूल !! इन आँखों का भोलापन झूठा था, मिथ्या था । मृग-जल के पीछे आज तक भटका हूँ तो उसे प्राप्त भी करूंगा ।

विद्युत—यह दोष मेरा नहीं तुम्हारा है । उसी अज्ञान का पर्दा आज भी तुम्हारी आँखों पर पड़ा है । मुख्य द्वार टूट चुका है । यवनों की सेना कुछ क्षणों में ही महल के हर कोने में फैल जायेगी । तुम्हारे महाराणा, जिनके जूठे टुकड़ों पर तुम आज तक श्वान की तरह पलते रहे, बन्दी किये जायेंगे और तुम टुकुर टुकुर देखोगे । तुम्हारी माँ-बहनों का सतीत्व रत्न लुटेरे लूट लेंगे और तुम्हारी आँखें.....। चले जाओ यहाँ से । कायर हो तुम । नीच, कुत्सित !

[क्रोध के कारण विद्युत काँपने लगती है । सहसा एक भयंकर स्वर होता है । दो यवन सैनिक दौड़ते हैं । दोनों के हाथों में रक्तरंजित तलवारें हैं ।]

दोनों सैनिक—(समर सिंह के आगे सर झुका कर) सरदार जिन्दाबाद । महाराज कैद कर लिये गये हैं । किले पर अपना परचम लहरा रहा है । शहंशाह ने आपको याद फरमाया है ।

विद्युत—शहंशाह ? कौन अलाउद्दीन ? महाराणा बन्दी हो गये, कोट पर तुम्हारी पताका फहरा रही है और तुम चित्तौर के सेना नायक को बन्दी नहीं करते ? उसका बध नहीं करते ?

एक यवन—(झुक कर) आप गलती कर रही हैं । सरदार समर सिंह हमारे दोस्त हैं । यह फतेह दर असल इन्हीं की वजह से मिली है । अगर यह किले के पोशीदा राज़ और रास्ते हमें न बताते तो किले में घुसना एकदम नामुमकिन था ।

दुसरा यौवन—और इस इमदाद के लिये हमारे बादशाह इनके शुक्रगुज़ार हैं । आज ही सरदार साहब यहाँ के वज़ीर मुकर्रर किए जायेंगे

और आप, आप सरदार साहब की मलका करार दी जायेंगी। (यवन आदर से उन दोनों के आगे सर झुकाते हुए चले जाते हैं।)

विद्युत—(क्रोध से कांपती हुई) अब समझी। पापिष्ठ ! नीच !! तूने अपने हित के लिए अपने देश को परतंत्रता की बेड़ियाँ पहना दीं। अपनी कामना-पूर्ति के लिए सहस्त्रों नर पुंगवों को मृत्यु के घाट उतरवा दिया। क्यों ? क्या यही तेरा प्रेम था ? यही तेरी साधना थी ? जा। पहन जाकर बजोरी का मुकुट। झुका जाकर अपने स्वामी के चरणों में सर। चुप क्यों है ? तुझे तो हँसना चाहिये ! हँस ! अत्यन्त जोर से हँस ! विजय की रागिनी छेड़, दिवाली मना। (विद्युत घृणा भाव से पृथ्वी पर थूकती है)

समर—यह ठीक रहा। मुझी को दोष दे रही हो ! ठीक है। पर तनिक सोचो तो मैंने देश-द्रोह किया—किसके लिये ? शत्रु को भेद बताए—किसके लिए ? अपना सर झुकाया-किसके लिए ? किसके लिए यह सब किया मैंने ? मुझे अपने सुख से अधिक तुम्हारे सुख का ध्यान था। चलो ! अबतो हम स्वतंत्र हैं। मैं यहाँ का राजा और तुम रानी। आज से यह उपवन, यह कोट, महल; नगर, नदी, नद; नाले, बन, निर्झर पहाड़ सब अपने हैं विद्युत। जहाँ इच्छा होगी घूमेंगे—चाँदनी रातों में-तारों की छाँह में।

विद्युत—अच्छा ! तो तुमने यह मेरे लिये किया ? मेरे सुख के लिए तुमने देश द्रोह किया, सर झुकाया। समर ! क्यों अपने को धोखा दे रहे हो ? अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछो—क्या यह सब तुमने मेरे लिए किया—मेरे लिए ?

समर—हृदय ? हृदय में तुम्हारी ही प्रतिमा है प्रिये ! मान के बन्धन में हृदय की भूखी चाहों को न बाँधो। आओ ! समीप आओ ! ये बाहें व्याकुल हैं तुम्हें बाँधने के लिये, ये अधर तरस रहे हैं एक मधुर चुम्बन के लिए।

विद्युत—भूल जाओ वह सपना ! मेरा समर तो मर गया। तुम समर नहीं, उसकी प्रेतात्मा हो ! दूर हो जाओ मेरी दृष्टि के आगे से।

समर—इतना क्रोध न करो हृदयेश्वरी। प्रिये !

विद्युत—चुप रहो ! इन सम्बोधनों से मुझे अपवित्र न करो। जिस वीर श्रेष्ठ समर को मैंने अपना हृदय दिया था, जिस नरपुंगव की मैं वाग्दत्ता हूँ वह अब कहाँ ? तुम तो कोई कापुरुष हो। छद्म वेष से मुझे छलने आये हो।

समर—(बढ़कर) प्रिये तुम भूलती हो। देखो मैं वही समर हूँ। भूल गई। इसी सरोवर के तट पर हमने एक रात को क्या प्रण किया था—हम जीवन भर एक दूसरे से विलग नही होंगे—भूल गई क्या ?

विद्युत—क्षत्राणी अपने वचन को नही भूलती, सिंहनी अपने प्रण से नही डिगती। मैंने अपने समर को वचन दिया था। मुझे याद है। और मैं उसका पालन भी करूँगी।

समर—(प्रसन्नता से) विद्युत ! मेरी अच्छी विद्युत ! (भावावेश में विद्युत का हाथ अपने हाथों मे ले लेता है। विद्युत क्रुद्ध भाव से हाथ मुक्त कर लेती है।)

विद्युत—(तीव्र स्वर मे) छोड़ो मेरा हाथ। जिस हाथ को मेरे समर ने पकड़ा है उसे छूने का तुम्हें अधिकार नही—कोई अधिकार नही। रूप, सौंदर्य, यौवन ! जिस सौंदर्य के कारण तुम्हारा पतन हुआ वह किस काम का। नही ! अपवित्र हो गया है वह भी। पश्चाताप ! तुम्हारे पाप का प्रायश्चित मैं करूँगी—मैं करूँगी ! यह सौंदर्य जिसे देखकर तुम्हारी आँखों पर मोह का पर्दा पड़ गया अब मेरे लिए व्यर्थ है। व्यर्थ।

समर—(आर्द्र स्वर मे) विद्युत ! मैं वास्तव में अपराधी हूँ। मुझे क्षमा कर दो।

विद्युत—क्षमा ? (हंसती है) क्षमा माँगो जाकर अपने महाराणा से जिनके साथ तुमने विश्वासघात किया, क्षमा माँगो पावन चित्तौर-भूमि से जिसे तुमने नर्क से भी भयंकर बना दिया, क्षमा माँगो उन नारियों के आँसुओंसे जिनके भाई, पति, पुत्र अथवा सम्बन्धी काल के कौर बने, क्षमा माँगो उन अनाथों से जिन्हें तुमने महानाश की ज्वाला में फेंक दिया, क्षमा माँगो जाकर देश वासियों से जिनके गृह-द्वार तुमने लुटवा दिये, क्षमा माँगो अपने क्षत्रित्व से जिसे तुमने कलंकित कर दिया। मैं

कौन हूँ क्षमा देने वाली ? मैं तो स्वयं पाप की ज्वाला में दग्ध हुई जा रही हूँ। तुम्हारे कलंक की कालिमा से मेरा सौंदर्य भी कलंकित हो गया है। अब उसे रक्त की धारा ही पवित्र कर सकेगी।

[विद्युत अचानक अपनी कंचुकी में छिपी हुई कटार निकाल कर अपने वक्षस में भोंक लेती है। उसका शरीर भूमिपर गिर जाता है। समर विद्युत वेग से उसका सर अपनी जंघा पर रख लेता है। उसकी आँखों से अविरल अश्रु धार बहने लगती है।]

समर—विद्युत.....! विद्युत ! यह तुमने क्या किया ? इतना कठोर दंड दिया इस पापी को.....? इससे तो मुझी को मार डालतीं। प्रिये.. ...! आँखें खोलो !

विद्युत—(टूटे स्वर में) स.....म.....र !

समर—प्रिये ! तुमने अपनी आँखें सदैव के लिए मूँद कर मेरी आँखें खोल दी हैं। तुम्हारे पावन रक्त की सौगन्ध, जब तक देश में एक भी यवन रहेगा तब तक सुख की नींद न सोऊँगा ! मुझे क्षमा करदो विद्युत.....!

[विद्युत अपना दाहिना हाथ उठा कर समर के आँसू पोंछने का प्रयास करती है पर असफल रहती है। हाथ नीचे गिर जाता है और उसका शिर एक ओर लुढ़क जाता है। समर की सिसकियाँ गूँजने लगती हैं। दूर पर शृगाल बोलता है। समीप के वृक्ष से उल्लू का स्वर आता है। पीछे की ओर कुत्ते रोते हैं। धीरे धीरे यवनिका गिरती है]

आज मेरा विवाह है।

अमृत जिलाता और विष मारता है
किन्तु जब
जीवन मृत्यु से भी अधिक भयानक हो जाता है
तब विष ही अमृत बन जाता है।

पात्र तथा स्थान ।

कृष्णाकुमारी—मेवाण के राणा भीमसिंह की पुत्री ।
भीमसिंह—मेवाण के राणा ।
श्यामा—कृष्णाकुमारी की सहेली ।
रूपा—दासी ।
स्थान—मेवाण के राज दुर्ग का एक सुसज्जित प्रकोष्ठ ।
समय—सन्ध्या का अवसान ।

[प्रकोष्ठ वर्गाकार है। एक भुजा लगभग पन्द्रह फीट है। सामने ही एक द्वार है जिस पर बहुमूल्य जालीदार पर्दा पड़ा है। यह द्वार प्रासाद के अन्दर जाने के लिए है। द्वार के ऊपर महाराणा भीमसिंह का एक विशाल तैल चित्र टंगा है। बाईं ओर एक खिड़की है जिससे होकर अस्त होते हुए सूर्य की किरणें सामने पड़े हुए पर्यंक को रक्ताभ कर रही हैं। पर्यंक भीति से सटा हुआ है। उस पर रेशमी वस्त्र बिछे हैं। फ़र्श पर बहुमूल्य कालीन बिछा है। बायें कोने में एक सितार रक्खा है और पर्यंक के नीचे असावधानी से वीणा पड़ी है। खिड़की के

समीप ही खड़ी हुई कृष्णाकुमारी सूर्यास्त का मनोहर दृश्य देख रही है। अवस्था लगभग १८ वर्ष; वर्ण गौर; शरीर स्वस्थ; अंग-अंग यौवन के मद में डूबे हुए; हल्के धानी वर्ण की साड़ी; कटि तक झूलती हुई अलकावली; आंखों में काजल की महीन रेखा; नाक में हीरे की कील; मस्तक पर छोटी बिंदी; वक्षस्थल पर मूल्यवान मोतियों का हार; कपोलों को चूमते हुए बड़ाऊ कर्णफूल! खिड़की पर कोहनी और हथेली पर चिबुक रक्खी है। वह सूर्यास्त के दृश्य में उलझी हुई है अथवा अपने ही अन्तर की गहराइयों में डूबी हुई, कहा नहीं जा सकता। सूर्यास्त हो जाता है और प्रकोष्ठ में धीरे धीरे अन्धकार बढ़ता जाता है। कृष्णाकुमारी की दासी रूपा स्वर्ण-दीप जलाती है। कृष्णाकुमारी उसी प्रकार खड़ी रहती है। रूपा बाहर से चली जाती है। कुछ क्षण प्रकोष्ठ में पूर्ण निस्तब्धता रहती है। सहसा द्वार का पर्दा हटा कर कृष्णाकुमारी की सहेली श्यामा आती है। वह श्वेत साड़ी पहने है। स्वस्थ और सुन्दर है। अवस्था लगभग बीस वर्ष! कृष्णाकुमारी अपने ध्यान में मग्न रहती है।]

श्यामा—(अत्यन्त मदु स्वर में) क्या देख रही हो बहन ?

कृष्णा— (चौंक कर घूमते हुए) ओह तुम हो श्यामा! मैं ? ऐसे ही तनिक सूर्यास्त देख रही थी।

श्यामा—(हंसते हुए) सूर्यास्त ? वह तो कब हो चुका बहन! सच बताओ, क्या सोच रही थीं तुम ? क्या वह घटना अभी तक तुम्हारे मानस-पटल पर अंकित है ?

कृष्णा—(टंडी सांस भर कर) उस घटना को कैसे भुलाया जा सकता है श्यामा ? आज से छः मास पूर्व का वह सूर्यास्त ही तो मेरे जीवन का सबसे महान कोष है। इसी पहाड़ी पर वह भयंकर युद्ध हुआ था। श्वेत अश्व पर आरूढ़ वे जोधपुर नरेश मानसिंह का पीछा करते हुए इसी पहाड़ी के पीछे अन्तर्धान हो गये थे। उनकी पीठ तो देखी थी उस दिन, पर मुख आज तक नहीं देख पाई हूँ।

[वह उदास भाव से फिर खिड़की की ओर मुख करके बाहर पहाड़ी की दिशा में शून्य दृष्टि से देखने लगती है।]

श्यामा—(उसके समीप जाकर) तो क्या उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रही थीं ?

कृष्णा—(खिड़की के समीप से हटकर पर्यंक पर बैठते हुए) केवल आज ही नहीं, उस दिन से नित्य सूर्यास्त के समय इसी खिड़की पर खड़ी होकर उनके आगमन की प्रतीक्षा करती हूँ ।

[कृष्णा का गला रुँध जाता है। श्यामा आकर उसी के पास बैठ जाती है और उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे सान्त्वना देने का प्रयास करती है। नेपथ्य से करुण संगीत-लहरी उठती है।]

श्यामा—धीरज रक्खो बहन !

कृष्णा—(भरे स्वर में) ६ मास बीत गये श्यामा ! ६ मास; १८० दिन ! नित्य सूर्योदय हुआ, सूर्यास्त हुआ, पर.....पर मेरा वह सूर्यास्त आज तक नहीं आया श्यामा, आज तक नहीं आया !

श्यामा—(पीठ पर हाथ फेरते हुये) निराश न हो बहन ! मुझे विश्वास है कि वे शीघ्र ही आयेंगे ।

कृष्णा— तब तक न जाने मेरी क्या दशा हो जायेगी.....!

श्यामा—बहन !

कृष्णा—तुम क्या जानो श्यामा कि इन ४, ३२० घंटों में मैं कितनी बार मर मर कर जीवित हुई हूँ, तुम क्या जानो कि इन आँखों ने कितनी बार गंगा-यमुना की धारायें प्रवाहित की हैं, तुम क्या जानो कि इन लम्बी भयंकर रातों के गहन अंधकार में कितनी बार मैं दुःस्वप्नों से चौंक-चौंक पड़ी हूँ, तुम क्या जानो श्यामा—तुम क्या जानो.....!

[कृष्णा कातर होकर तकिये में अपना मुख छिपा लेती है। उसकी सिसकियों का स्वर प्रकोष्ठ के वातावरण को करुण करता रहता है।]

श्यामा—(उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुये) पागल न बनो ! जयपुर-नरेश जगत सिंह की वाग्दत्ता को ऐसी कातरता शोभा नहीं देती ! उनकी वीरता, साहस और प्रबल पराक्रम पर विश्वास रक्खो बहन ! मीर मानसिंह को पराजित कर वे अब शीघ्र ही आते होंगे ।

कृष्णा—(तकिये से सर उठा कर आँसू पोंछते हुये) सच.....!

श्यामा—हाँ ! अब हँस तो दो ज़रा !

[कृष्णा के अधरों पर एक मधुर मुस्कान खेल जाती है। अश्रुपूर्ण आँखें स्मित के कारण अत्यन्त सुन्दर लगने लगती हैं।]

श्यामा—अब ठीक है। तुम हँसी और शान्त सरोवर में दो प्यारे प्यारे कमल खिल गये।

कृष्णा—(निश्वास छोड़कर) कमल ? वे तो किसी की सुधि के तुषार के कारण कब के मुरझा गये हैं श्यामा !

श्यामा—किसी के दर्शन से वे शीघ्र विकसित भी हो जायेंगे !

कृष्णा—(उदास स्वर में) वह घड़ी न जाने कब आयेगी ?

श्यामा—वह मंगल घड़ी अब आने ही वाली है। कल ही तो दूत समाचार लाया था कि दुष्ट मानसिंह को पराजित कर महाराज जगत सिंह मेवाड़ की ओर प्रस्थान कर चुके हैं।

कृष्णा—(प्रसन्न स्वर में) तब तो वे आते ही होंगे ! श्यामा किन, शब्दों में धन्यवाद दूँ तुम्हें ? तुमने मेरे मृत शरीर में नवजीवन का संचार कर दिया है। मेरा मन-मयूर नृत्य करने को लालायित हो रहा है, अंग-प्रत्यंग उमंगों के दोल पर झूल रहा है।

श्यामा—(हँसकर) तब तो पुरस्कार की आशा करूँ बहन ?

कृष्णा—(गंभीरता पूर्वक) अवश्य ! मैं तुम्हें मुँह माँगा पुरस्कार दूँगी। बोलो क्या चाहती हो ?

श्यामा—(कृत्रिम गंभीरता से) जयपुर जाकर मुझ अकिंचन को भूल न जाना बहन ! राग-रंग तथा आमोद-प्रमोद से जब पल भर का अवकाश मिले तो अपनी इस सखी को भी याद कर लेना।

कृष्णा—(आर्द्र स्वर में) यह क्या कह रही हो श्यामा ? मैं तुम्हें बहन के समान मानती हूँ। तुम्हारे हृदय में इस प्रकार की भावना उदित ही क्यों हुई कि.....कि.....!

[कृष्णा की आँखें भर आती हैं और स्वर अवरुद्ध हो जाता है। श्यामा अपनी कृत्रिम गंभीरता त्याग कर हँसने लगती है।]

श्यामा—यह क्या ? मैं तो परिहास कर रही थी। आज इन आँखों में अश्रु नहीं, हास होना चाहिये। हँसो, हँसो ! कृष्णा, तुम ऐसी

नहीं मानोगी।

[श्यामा कृष्णा की पीठ गुदगुदाती है। कुछ देर तक तो कृष्णा हँसी रोकने की भरसक चेष्टा करती है पर असफल रहने पर खिलखिला कर हँसने लगती है। उसी समय रूपा आती है।]

रूपा—(गंभीर स्वर में) कुमारी जी! अभी अभी राणा के पास जयपुर नरेश का दूत आया है।

कृष्णा—(व्यग्रता से) क्या समाचार लाया है वह?

रूपा—यह तो मैं नहीं जानती कुमारी जी!

कृष्णा—शीघ्र जाकर पता लगा और मुझे सूचना दे।

रूपा—जो आज्ञा कुमारी जी!

[रूपा चली जाती है।]

कृष्णा—क्या समाचार होगा? मेरा हृदय व्याकुल.....

श्यामा—व्याकुल क्यों होती हो बहन! मेरा अनुमान है कि वह जयपुर नरेश के शुभागमन का ही संदेश लाया होगा।

कृष्णा—भगवान करे ऐसा ही हो।

श्यामा—ऐसाही होगा बहन! अपने प्रियतम के स्वागत के लिए सोलह शृंगार तो कर लो।

कृष्णा—अवश्य करूँगी। आज मेरे जीवन की स्वर्ण रात्रि है। मेरे प्राणेश्वर मुझे लेने आरहे हैं। सोलह शृंगार करके मैं हसूँगी, गाऊँगी, नाचूँगी।

[कृष्णा हर्ष तथा उत्साह से झूम झूम कर नृत्य सा करने लगती है। श्यामा के मुखमंडल पर भी प्रसन्नता के भाव हैं। वह सितार उठा लेती है। उसकी पतली तथा चंचल उँगलियों के स्पर्श से तार झंकृत हो उठते हैं। वह गाती है।]

मैं सोलह शृंगार करूँगी!
तारों से भर माँग आज—
नाचूँ, गाऊँगी प्यार करूँगी।
मैं सोलह शृङ्गार करूँगी॥

आया है संदेश पिया का;
बुला रहा है देश पिया का;
नैहर तज, पीहर की रज को—
मैं जीवन-अधार करूँगी।
मैं सोलह श्रृङ्गार करूँगी॥

नई उमंगों का मेला है;
आज मिलन की शुभ बेला है;
प्रियतम के चरणों पर अपना —
तन-मन-धन बलिहार करूँगी।
मैं सोलह श्रृङ्गार करूँगी॥

गूँथ हृदय जयमाल बनाऊँ;
प्रिय-पथ पर मैं बिछ बिछ जाऊँ;
जीवन-धन को अर्पित मैं—
अपने जीवन का हार करूँगी।
मैं सोलह श्रृङ्गार करूँगी॥

[गंभीर मुद्रा में राणा भीमसिंह का प्रवेश। वे अधेड़ आयु के हैं। उनके मुख पर चिन्ता तथा उदासी की धूमिल छाया है। श्यामा सितार कोने में रखकर सर झुकाकर खड़ी हो जाती है। कृष्णा भी संयत हो जाती है।]

भीमसिंह—(क्षण भर कृष्णा की ओर अपलक दृष्टि से देख कर एक दीर्घ निश्वास छोड़ते हुये) बेटी कृष्णा!

कृष्णा –(राणा के स्वर की आर्द्रता तथा करुणा से चौंककर उनकी ओर देखती हुई) पिता जी! आप स्वस्थ तो हैं?

भीमसिंह—स्वस्थ हूँ, इसी का तो दुख है बेटी! मैं.....मैं.....

कृष्णा—(व्यग्रता से) आप रुक क्यों गये पिता जी?

भीमसिंह—(भीगे स्वर में) जयपुर नरेश का दूत आया था बेटी।

कृष्णा—मुझे ज्ञात है पिता जी। क्या समाचार लाया था?

भीमसिंह—बेटी!

[राणा का कंठ भर आता है। वे आगे नहीं बोल पाते। उनकी आँखों में आँसू की बूँदे भी झलकने लगती हैं।]

श्यामा—इसमें दुखी होने की क्या बात है राणा जी! मैं जानती हूँ, दूत क्या संदेश लाया होगा। यही न, कि जगतसिंह जी शीघ्र ही यहाँ आने वाले हैं। आप इसी लिए कातर हो रहे हैं कि कृष्णा अब जयपुर चली जायेगी? आपको तो प्रसन्न होना चाहिये कि.....।

भीमसिंह—(बीच में ही और भी अधिक रुद्ध स्वर में) तुम नहीं समझती बेटी श्यामा! तुम कुछ नहीं समझती।

श्यामा—मैं सब समझती हूँ राणा जी! आप पिता हैं, तो मैं भी सखी हूँ, बहन हूँ। कृष्णा के वियोग का ध्यान मुझे भी दुखी करता है। पर इससे क्या? पुत्री पिता के गृह में सदैव के लिए तो नहीं रह सकती। सच्चा गृह तो पति के यहाँ है। आप .....।

भीमसिंह—(व्याकुल स्वर में) तुम्हें कैसे समझाऊँ कि .....

श्यामा—(बीच में ही) आप किसी बात की चिन्ता न करें राणा जी! मैंने कृष्णा से मेवाड़ को न भूलने का बचन ले लिया है। (कृष्णा की ओर मुड़ कर) है न कृष्णा बहन!

[कृष्णा लज्जा से सर झुका लेती है।]

भीमसिंह—इस प्रसङ्ग को छेड़ कर तुमने मुझे और भी दुखित कर दिया श्यामा बेटी! मेरा हृदय .....मेरा हृदय फटा जा रहा है। किन शब्दों में ..... किस मुखसे .....मैं अपनी प्राणों सी प्रिय पुत्री को दुःसंवाद सुनाऊँ?

कृष्णा—(चौंककर) कैसा दुःसंवाद पिता जी .....?

भीमसिंह—(श्यामा से) मुझमें इतना साहस नहीं है कि मैं कृष्णा से सब कुछ कह सकूं। तुम्हीं इसे बता दो श्यामा बेटी कि..... कि दुष्ट मानसिंह ने जगतसिंह को पराजित कर दिया है और.....और वह अमीर खाँ पिंडारी की सहायता से भयंकर उपद्रव करता हुआ इसी ओर आ रहा है। .....अब.....।

[राणा इसके आगे कुछ नहीं कह पाते। उनका गला रुँध जाता है और आंखें सजल हो उठती हैं। भावी आशंका से वे काँप

उठते हैं। कृष्णा की ओर देखने का उनमें साहस नहीं है। वे तीव्र गति से बाहर चले जाते हैं। कृष्णा का मुख पीला पड़ जाता है।]

श्यामा—धैर्य से काम लो बहन!

[कृष्णा श्यामा की ओर कातर तथा करुण दृष्टि से देखती है। फिर पर्यंक पर बैठ जाती है और तकिये में अपना मुख छिपा कर फूट फूट कर रोने लगती है। श्यामा उसके समीप बैठ जाती है।]

श्यामा—(कृष्णा की पीठ पर हाथ फेरते हुये) परमात्मा पर विश्वास रक्खो बहन! वे फिर नीच मानसिंह का मान-मर्दन करके तुम्हारा वरण करने आयेंगे। मैं स्वयं अपने हाथों से तुम्हारा शृंगार करूँगी, तुम्हें दुलहन बनाऊँगी।

कृष्णा—(तकिये से सर उठाकर तीव्र किन्तु सिसकते स्वर में) बस करो श्यामा, बस करो! इन मीठे सपनों से मुझे छलने की चेष्टा न करो। मैं जानती हूँ.....मैं जानती हूँ, अब वे कभी न आयेंगे श्यामा, कभी न आयेंगे!

[कृष्णा फिर कातर होकर रोने लगती है।]

श्यामा—हताश होने से क्या लाभ बहन? कुछ उपाय करो।

कृष्णा—(सर उठा कर दृढ़ स्वर में) उपाय.....! उपाय मैंने सोच लिया है। पापी मानसिंह की कामना कभी पूर्ण न होगी।

श्यामा—ऐसा ही होगा बहन!

कृष्णा—हाँ, ऐसा ही होगा। मैं उनकी थी, उनकी हूँ और उन्हीं की रहूँगी। एक मानसिंह क्या सहस्त्रों मानसिंह भी मेरे शरीर की छाया भी न छू सकेंगे।

[कृष्णा उठती है और मंदगति से जाकर खिड़की के पास खड़ी हो जाती है। वह निर्निमेष दृष्टि से बाहर की ओर देखती रहती है। श्यामा भी चुपचाप जाकर उसी के पीछे खड़ी हो जाती है।]

श्यामा—उधर शून्य में क्या देख रही हो बहन?

कृष्णा—(चौंक कर) श्यामा! देखा तुमने? वे मुझे लेने आ रहे हैं। तुम मेरा शृंगार करो, मुझे दुलहन बनाओ। आज मेरा विवाह है।

श्यामा—(विस्मय से उसकी ओर देखती हुई) कृष्णा बहन!

कृष्णा—सुना नहीं तुमने ? मुझे दुलहन बनाओ। शुभ मुहूर्त्त निकट है। शीघ्र मेरा श्रृंगार करो। वे मुझे लेने आ रहे हैं। आज मेरा विवाह है।

श्यामा— (कृष्णा को दोनों हाथों से झकझोर कर) कैसी बातें कर रही हो बहन ? यह पागलपन तुम्हें शोभा नहीं देता।

कृष्णा—पागलपन ? (हँस कर) मुझे यही आश्चर्य है कि मैं पागल क्यों न हुई। मेरे कारण भयंकर रक्त पात हुआ, लाखों बहनों के भाई छिने, माताओं के पुत्र छिने, पत्नियों का सुहाग लुटा ! मेरे कारण .....मेरे कारण हुआ यह सब, मेरे कारण। मैं कैसी अभागिनी हूँ। जन्म लेते ही .....।

[कृष्णा सिसकने लगती है।]

श्यामा—संयत हो बहन, अपने को सँभालो।

कृष्णा—(सिसकते हुये) जन्म लेते ही मैं.....क्यों न मर गई ? मैं.....मैं इतिहास का कलंक हूँ। माता-पिता के दुख का कारण, महा संहार की जड़, मेवाड़ का.....। श्यामा, काश.....काश जन्म लेते ही मेरी मृत्यु हो गई होती। मैं कितनी हतभागिनी हूँ।

[कृष्णा फूट फूट कर रोती है। श्यामा उसकी पीठ पर हाथ फेरती हुई सान्त्वना देने की चेष्टा करती है। नेपथ्य से करुण संगीत-लहरी उठती है।]

श्यामा—यह झूठी आत्मग्लानि है बहन ! परमात्मा की यही इच्छा थी।

कृष्णा—परमात्मा ? कहां है परमात्मा ? मुझे अब उस पर विश्वास नहीं रहा। जीवन की ज्वाला मुझे दग्ध कर रही है। मेरा रोम रोम मुझे धिक्कार रहा है। जाओ.....जाओ श्यामा ! कहीं यह आग तुम्हें भी भस्म न करदे।

श्यामा—बहन !

कृष्णा—(तीव्रस्वर में) जाओ यहाँ से। मुझे एकान्त चाहिये। आज मेरा विवाह है न ! प्रियतम से मिलने की तैयारी करना है मुझे।

[श्यामा एक क्षण के लिए सोचती है फिर चुप चाप बाहर चली

जाती है ।]

कृष्णा— (कंचुकी से विष की छोटी शीशी निकाल कर) मेरी जीवन संगिनी ! आ तुझे हृदय से लगा लूँ ! महीनों से तुझे संभाल कर रक्खे हूँ । आज.....आज.....तू ही मेरे कलंक को धो सकती है, मेरा विवाह प्राणेश्वर से करा सकती है ।

[कृष्णा एक घूँट में सारा विष पीलेती है । मन्द गति से खिड़की तक जाकर वह शीशी बाहर फेंक देती है और उसी खिड़की के सहारे खड़ी हो जाती है । विष का प्रभाव उस पर होने लगता है ।]

कृष्णा— (टूटे स्वर में) दूर उन पहाड़ियों के पीछे.....पीछे से तुम... तुम.....आ रहे हो । आओ .....और .... और प्रतीक्षा नहीं होती । वह.....वह है श्वेत.....श्वेत... अश्व ! आ.....गए .....आ-ग.....! नाथ ! मुझे.....मुझे... लेने.....! आज .....पे... ..रा.....वि.....वा.....ह.....है..... न !

[कृष्णा की वाणी कुंठित हो जाती है और शरीर निश्चेष्ट हो जाता है । उसका निर्जीव शरीर फर्श पर गिर जाता है । धीरे धीरे यवनिका गिरती है ।]